प्रकाशक :

प्रवचन प्रकाशन समिति, जयपुर के लिए
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ,
बीकानेर (राजस्थान)

सम्पादक :

श्री शांतिचंद्र मेहता एम. ए., एलएल-बी., एडवोकेट

मूल्य—पांच रुपया.

प्रथम आवृत्ति : १०००.

सितम्बर, १९७५.

मुद्रक—

जैन आर्ट प्रैस,
(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)
समता-भवन
रामपुरिया मार्ग, बीकानेर

प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय जैनाचार्य श्री नानालाल जी म. सा. श्रमण-परम्परा के उन्नत साधक तो हैं ही किन्तु जैन-समाज के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र भी हैं। सांसारिक वासनाओं के पंक से जिनके चरण प्रारम्भ से ही तनिक भी मलिन नहीं हुए हैं तथा जिन्होंने अपने जीवन का श्रीगणेश ही आत्मिक साधना से किया है, ऐसे इन आचार्यश्री की प्रतिभा एवं प्रभाव अनुपम हैं।

आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. बालब्रह्मचारी हैं और आपने अपने दीर्घ दीक्षा-काल में महान् धर्म-यश का अर्जन किया है। समूचे साधु-समाज के लिए आप एक अतुलनीय आदर्श हैं। आप वीतराग-वाणी के प्रखर-प्रवक्ता हैं और आपका एक-एक वचन आत्मज्ञान की दृष्टि से सर्वजनहिताय, सर्वजन-सुखाय' के लक्ष्य से युक्त होता है। अतः व्यापक प्रसार हेतु जयपुर चातुर्मास में दिए गए आपके प्रवचनों का संग्रह "पावस-प्रवचन" नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। अद्यावधि "पावस-प्रवचन" के तीन भाग जयपुर से प्रकाशित हो चुके हैं और यह चतुर्थ भाग श्रद्धालु पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता अनुभव हो रही है।

सूक्ष्म विवेक आचार्यश्री के जीवन की प्रमुख विशेषता है तथा आपका प्रत्येक प्रवचन साधु-मर्यादा एवं शास्त्रीय आज्ञा की सीमा में आबद्ध रहता है। आप नपे-तुले शब्दों में सदुपदेश देते हैं, जिसका एकमात्र उद्देश्य आत्म-जागृति एवं आत्मकल्याण होता है।

इन उपदेशों के प्रकाशन या मुद्रण से आचार्यश्री का कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः इस ग्रन्थ में कोई भी वाक्य या शब्द सदोष आ गया हो अथवा मूल भाव में कहीं कोई अन्तर दिखाई दे तो उसके लिए हम ही उत्तरदायी हैं।

गुरुदेव का कार्य तो प्रवचन देना मात्र है। उसके प्रकाशन, मुद्रण एवं प्रसार की समस्त व्यवस्था हमारी है, जिसकी भूलों को स्वीकार करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर ने हमारे निवेदन पर "पावस-प्रवचन" की प्रकाशन-योजना को सम्पन्न करना स्वीकार किया है, एतदर्थ हम संघ के अत्यन्त आभारी हैं।

यदि समाज ने इस प्रकाशन-क्रम को पसंद किया तथा विज्ञ पाठकों ने इस ग्रंथ को पढ़ कर अपना कर्तव्य-बोध ग्रहण किया तो हम अपने प्रयास को सफल समझेंगे।

जयपुर
दिनांक २५ सितम्बर, १९७५.

विनीत,
राजमल चोरड़िया

सम्पादकीय वक्तव्य

जीवन को इतना क्षणभंगुर माना है, जैसे कि तरु पल्लव पर पड़ा ओसकरण हो। वह करण कब बिखर जाय—कब सूख जाय, कहा नहीं जा सकता है। जीवन की स्थिति तो ओसकरण के समान है किन्तु उसका स्वरूप ओसकरण के स्वरूप के समान बने—ऐसी साधना का क्रम होना चाहिये। ज्यों ही सूर्य की रश्मि उस करण का स्पर्श करती है कि वह अन्दर-बाहर से आलोकित हो उठता है। हमें भी यही देखना है कि क्या हमारा भी जीवन ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश से दैदीप्यमान होता है? आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. जिन-वाणी का अपनी जिस मौलिक एवं सारगभित शैली में विश्लेषण फरमाते हैं, उसे आप ज्ञान-सूर्य ही मानिये। 'पावस-प्रवचन' के इस भाग में संकलित आचार्यप्रवर की प्रवचन-पंक्तियां सूर्य-रश्मियाँ हैं, जिनसे भव्यजनों के जीवन-रूपी ओसकरण आलोकित होने ही चाहिये।

आचार्यश्री के प्रवचनों की परम विशिष्टता यह है कि उनमें सर्वत्र समता-दर्शन की झलक दिखाई देगी। उत्थान-कामी प्राणियों को यदि सम-वातावरण मिल जाता है तो उनकी साधना-यात्रा भी सरल बन कर समतामय हो जाती है। आधुनिक युग में इसे दूर-दृष्टि ही कहिये कि विचार एवं आचार में समता-साधना की प्रक्रिया पर अधिकाधिक बल दिया जाय। जयपुर चातुर्मास में दिये गये आचार्यश्री के प्रस्तुत प्रवचन-संकलन में समता का विविध प्रकार से अर्थ-विन्यास किया गया है तथा समता को जीवन में रमा लेने का आग्रह।

एक प्रखर वक्ता के रूप में आचार्यश्री की उपदेश-धारा जब प्रवा-हित होती है तो वह श्रोताओं के हृदयों को भावाभिभूत बना देती है। मैं

नहीं समझता कि उन्हीं प्रवचनों के सम्पादन में मैं वह प्रभाव निभा पाया हूं, फिर भी मेरी चेष्टा यही रही है कि सम्पादन में मैं अधिकतम रूप से आचार्य-श्री की भाषा, भाव एवं शैली का निर्वाह करूं। इस सम्पादन में पाठकों को जो श्रेष्ठता दृष्टि में आये, वह आचार्यश्री की है तथा भाषा, भाव एवं शैली सम्बन्धी जो भी दोष दिखाई दें—उनका उत्तरदायित्व सम्पादक का है।

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर, जो आचार्यश्री के साहित्य (इस संकलन सहित) का प्रकाशन कर रहा है, के कर्मठ कार्यकर्त्ताओं की सजगता का ही यह सुफल है। संघ का तथा सम्पादक का श्रम तभी सार्थक समझा जायेगा, जब प्रबुद्ध पाठक इन प्रवचनों का अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करके अपने जीवन को आलोकित करने की दिशा में अग्रसर होंगे।

— शान्तिचन्द्र मेहता

एम. ए., एलएल.-बी., एडवोकेट

ए–४, कुम्भानगर, चित्तोड़गढ़ (राजस्थान)

अनुक्रमणिका

जीवन का प्रथम सूत्र



प्रथम प्रवचन

दिनांक १५ सितम्बर, १९७३

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

" अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये.........."

ये अभिनन्दन प्रभु की प्रार्थना की पंक्तियां हैं । मंगलाचरण का उच्चारण एक वाह्य रूप है, किन्तु इन पंक्तियों के भीतर जो गूढ़ार्थ छिपा हुआ है, उसे ही प्रकटित एवं अन्वेपित करने के लिये इन पंक्तियों का बारम्बार उच्चारण समीचीन कहलायेगा । यही उच्चारण जब चिन्तन की सरणि के माध्यम से हृदय की गहराई में पैठता है तो वह गूढ़ार्थ स्पष्टतर होता चला जाता है और आत्मा जागृति के पथ पर अग्रसर होती है ।

वह गूढ़ार्थ क्या है, इसे गम्भीरतापूर्वक समझने की आवश्यकता है । भगवत्स्वरूप के दर्शन करने की जब अन्तर में प्रेरणा पैदा होती है तो आत्मा की शक्ति अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को जानने के लिये भी छटपटाने लगती है। उसी छटपटाहट के भाव जब साधक अपने वचन के माध्यम से बाहर प्रकट करता है तो वही प्रकटीकरण एक प्रकार से प्रार्थना का रूप बन जाता है । अतः प्रार्थना का गूढ़ार्थ यही होता है कि वह अन्तरात्मा को झकझोर कर और भाव-विभोर बना कर भेद-विज्ञान की दिशा में आगे बढ़ा देता है । आत्मा अपनी वर्तमान पतनावस्था से आन्दोलित होकर भगवत्स्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रयासरत बने—यह प्रार्थना की मूल प्रेरणा होती है ।

भेद-विज्ञान की महत्ता

यह सत्य है कि आत्मिक-शक्ति को सही रूप ने जगाये बिना उसके अन्दर की शक्ति का तेज और ज्ञान का प्रकाश प्रस्फुटित नहीं होता । इसके बिना भेद-विज्ञान की गहनता भी प्रकट नहीं हो सकती । भेद-विज्ञान किसे कहें ? आत्मा को यथास्थान व्यवस्थित ज्ञान हो जाए तो उसके उस ज्ञान में भेद-विज्ञान भी निहित होता है । भेद का अर्थ है—वर्तमान आत्म-स्वरूप एवं शुद्ध परमात्म-स्वरूप के बीच का भेद । उसका विज्ञान होता है—इस भेद के कारण क्या हैं, इस भेद को कैसे घटाया और मिटाया जा सकता है और जब सारा भेद समाप्त हो जाता है तो वह दिव्य स्वरूप कैसा होता है आदि विशिष्ट विषयों पर सम्पूर्ण ज्ञान हो, गहरी आस्था हो तथा कर्मण्यता की लौ लग जाय।

कई लोग बोलने को कह देते हैं कि उन्हें भेद-विज्ञान का स्पष्ट

ज्ञान हो गया है और वे जानते हैं कि जब आत्मा अपने को शरीर से सर्वथा भिन्न समझ कर कर्मरहित एवं विषयकषाय-रहित बने और वे यह भी देख रहे हों कि आत्मा सिद्ध-परमात्मा के तुल्य स्वरूप ग्रहण कर रही है तो इस प्रकार का कथन आपेक्षिक दृष्टि से माना जा सकता है, क्योंकि या तो वह भेद-विज्ञान की गूढ़ दृष्टि के बिल्कुल नजदीक पहुँचा हुआ माना जाय अथवा यदि वह सर्वथा वर्तमान पर्याय में एकान्त रूप से कथन कर रहा है तो वह भेद-विज्ञान के बदले भ्रम-विज्ञान में चल रहा है—ऐसा कहना चाहिये।

भेद-विज्ञान भ्रम में तो नहीं ?

आत्मा और परमात्मा के बीच रहे हुए भेद को यथार्थ दृष्टि से समझना और उसे मिटाने की विधि की सम्यक् जानकारी करना ही भेद-विज्ञान का सार है। आत्मा वर्तमान पर्याय में मनुष्य या अन्य प्राणी के शारीरिक चोले में रहते हुए भी योग्यता की दृष्टि से सिद्धत्व की धारिणी होती है—परमात्मा का स्वरूप गुण रूप से उसमें विद्यमान रहता है। किन्तु उसके साथ उसकी वर्तमान तथ्यात्मक स्थिति यह होती है कि वर्तमान पर्याय में वह स्वरूप अप्रकट है—कर्मों के आवरण से आच्छादित है। उन कर्मों के साथ संलग्नता होने से ही आत्मा शरीर के साथ जुड़ती है और इस शरीर से संबन्धित शुभ या अशुभ विचारों व कार्यों के प्रवाह में बहती हुई अन्य कर्मों का उपार्जन भी करती रहती है।

अतः आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप पर दृष्टि रखते हुए भी वर्तमान पर्याय को आंखों से ओझल नहीं कर सकते हैं—प्राणी विज्ञान के नाम से इस स्थिति को झुठला नहीं सकते हैं। वस्तुस्थिति को वस्तुस्थिति के रूप में लेना ही होगा। वर्तमान में शरीर पर्याय में रहते हुए आत्मा सिद्धत्व पर्याय के तुल्य अपने आपको सर्वथा प्रकट रूप में नहीं बना सकती है, क्योंकि वह अभी शरीर के घेरे में बन्धी हुई है। साधना के बल से जब कर्मों की जंजीर को तोड़ देंगे और शरीर के बंधन मुक्ति पा लेंगे-तभी परमात्म—स्वरूप का उद्भव हो सकेगा।

अतः भेद-विज्ञान को यदि सही रूप से नहीं समझा जाय तो उसमें विविध भ्रमों के उत्पन्न होने की सदैव आशंका बनी रहती है। भेद-विज्ञान में भ्रम घुस गया तो विज्ञान अज्ञान का रूप ले लेगा।

जीवन का प्रथम सूत्र

जीवन का प्रथम सूत्र इस दृष्टि से यह माना जाना चाहिये कि इस

भेद-विज्ञान को भ्रम-रहित बना कर जानने, मानने और आजमाने के लिये अन्तरात्मा में निर्णायक शक्ति का विकास होना चाहिये । मैंने जो सूत्र बताया है कि—

"सम्यक् निर्णायकं, समतामयञ्च यत् तज्जीवनम् ।"

इसमें "सम्यक् निर्णायकम्" को इसी कारण पहले स्थान पर लिया गया है कि यदि स्थिति को यथार्थ दृष्टि से समझ कर उसमें सही निर्णय ले सकने की क्षमता का विकास नहीं हो सका तो आगे की समस्त प्रगति ही अवरुद्ध हो जायगी । निर्णायक शक्ति नहीं जगी तो जीवन को समतामय बनाने की स्थिति भी पैदा नहीं हो सकेगी ।

सम्यक् रूप से निर्णय करने की शक्ति को जागृत करना एवं पुष्ट बनाना इसी कारण जीवन का प्रथम सूत्र माना गया है । प्रथम सूत्र दृढ़ता से पकड़ लिया तो फिर अन्य सूत्रों को पकड़ने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ेगा । इसी के विपरीत यदि पहली ही सीढ़ी पर नहीं चढ़ सके तो ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ना तथा ऊंचाई तक पहुंचना कैसे सभव हो सकेगा ?

निर्णायक शक्ति कैसी और किसके लिये ?

जीवन के सत्य-मार्ग के दर्शन हेतु यह निर्णायक शक्ति मिथ्यात्व तथा भ्रम से रहित होकर सम्यक्त्व में ढलनी चाहिये और इस ढलान के बाद यह शक्ति इस प्रकार स्पष्टतर एवं पुष्टतर बनती जानी चाहिये कि विकास की गति में यह प्रकाशस्तम्भ का काम देती रहे । पथ पर जब कहीं अन्धेरा नहीं रहेगा तो यह भय भी नहीं रहेगा कि उत्साह से आगे बढ़ने का इच्छुक पथिक कहीं भी मार्ग से भटक सकेगा । ऐसी निर्णायक शक्ति बन जाती है तो उस आत्मा के लिये भ्रम के मायाजाल में फसने की आशंका नहीं रहती है, क्योंकि जहां कहीं भी विपदा आई—संकट सामने हुआ तो वह निर्णायक शक्ति स्पष्ट निर्णय लेकर विकास की गति को पुष्ट और तीव्र बना देती है ।

यह निर्णायक शक्ति किसके लिये हो—यह भी समझ लेना चाहिये । ऐसी निर्णायक शक्ति व्यक्ति, और समाज दोनों के लिये शुभ परिणाम लाने वाली होगी । व्यक्ति चाहे सांसारिक कार्यों में लगा हो या कि आत्मिक साधना में—यदि उसके पास सम्यक् निर्णायक शक्ति है तो वह हर मोड़ पर सदाशययुक्त निर्णय ले सकेगा । ऐसे निर्णय अवश्य ही सामाजिक वातावरण पर भी अपना श्रेयस्कर प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहेंगे । अतः यह कहा जा सकता है कि अन्तरात्मा में जो सही निर्णय ले सकने की क्षमता एवं शक्ति का विकास होता है तो वह एक प्रकार

से समूचे प्राणी-समाज के हित में ही होगा ।

निर्णायक शक्ति का सर्वोच्च ध्येय

एक साधक की आत्मा के अन्दर जगने वाली यह निर्णायक शक्ति सबसे ऊपर स्वय आत्मा के उस विकास नियोजित होनी चाहिये जो उसे परमात्म-स्वरूप की उपलब्धि की ओर अग्रगामी बनाता है । यही निर्णायक शक्ति का सर्वोच्च ध्येय माना जाना चाहिये ।

सर्वोच्च ध्येय के लिये ही सिद्ध प्रभु की प्रार्थना की जाती है कि जिस दिव्य स्वरूप को उन्होंने प्राप्त किया है, उसी की उपलब्धि के लिये हम अपनी निर्णायक बुद्धि के माध्यम से सत्य-साधना और समतामय साधना के पथ पर प्रगति करें । यह ध्येय तभी स्पष्ट और पुष्ट हो सकता है, जब प्रार्थना की तल्लीनता में सिद्ध स्वरूप को अपने अन्तःकरण में समाहित किया जाय और उस स्वरूप को अपनी भावना एवं साधना का सर्वोच्च ध्येय बनाया जाय ।

केवल ज्ञान, केवल दर्शन रूपी उज्ज्वलतम आलोक जिनके अन्दर जाज्वल्य रूप से प्रकटित हो चुका है— ऐसे सिद्ध परमात्मा की अवस्था को वर्तमान जीवन में साध्य बना कर जब उसका नित्य-प्रति चिन्तन किया जायगा, साधना एवं साधन की दृष्टि से इसी जीवन को तद् हेतु कार्यरत बनाया जाएगा तथा जीवन को सम्यक् निर्णायक व समतामय बनाया जाएगा तो सर्वोच्च ध्येय की दिशा में अग्रसर भी बना जा सकेगा ।

भ्रान्ति से दूर रहें !

विचारणा की इन दोनों स्थितियों को ध्यान में लेने की इस कारण पहली आवश्यकता है कि भेद-विज्ञान की जानकारी लेने में प्रारम्भ में ही कहीं भ्रान्तियों का प्रवेश न हो जाय । भ्रान्ति से दूर रहने के लिए मूल-स्थिति की अवधारणा सही हो जानी चाहिये ।

वैसे सीधा-सा सत्य है कि आत्मा की वर्तमान पर्याय में भी परमात्म-स्वरूप को प्राप्त करने की योग्यता रही हुई है किन्तु कर्मों के आवरण ने उस योग्यता को ढक रखा है— इस कारण उस आवरण को छेद डालने पर वह योग्यता प्रकट की जा सकती है और उसका उच्चतम विकास साधा जा सकता है । जैसे एक सड़क है—उसकी यह योग्यता है कि उस पर कोई भी वाहन चल कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर निर्बाध रूप से पहुंच सकता है, लेकिन कल्पना करें कि उस पर एक जगह पहाड़ की चट्टानों का समूह आ गिरा है और उसने उस सड़क को रोक दिया है, जिससे कि वाहन में एक स्थान से

दूसरे स्थान तक पहुंचाने की योग्यता होने के बावजूद उस अवरोध ने उसकी उस योग्यता को अयोग्य बना दिया है परन्तु उस अवरोध को हटाने पर फिर से वैसी ही योग्यता बन जाती है। इसी प्रकार कर्म–मैल से मलिन आत्मा भी साधना के जल से धुल कर सिद्धात्मा की तरह ही प्रकाशमान बन सकती है।

अब कोई यह कहे कि सिद्धात्मा के तुल्य ही स्थिति वर्तमान में भी आत्मा में आ गई है तो ऐसा कथन अवश्य ही भ्रान्ति-मूलक होगा। इस कारण इस भ्रान्ति से दूर रह कर शांति के साथ यह चिन्तन करना चाहिये कि हमारा वर्तमान स्वरूप मूल दृष्टि से एवं योग्यता की दृष्टि से भले ही परमात्म–स्वरूप के तुल्य हो किन्तु इस शरीर-संलग्न पर्याय में जब तक निर्णय एवं पुरुषार्थ की शक्तियां प्रबल बन कर सक्रिय नहीं बनेंगी, तब तक न तो वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान एवं निर्णय हो प्राप्त हो सकेगा और न ही पुरुषार्थ की कर्मठता मिलेगी।

भ्रम कटेगा, भेद-विज्ञान फलेगा।

भेद–विज्ञान जितना भ्रमहीन एवं भ्रांति-रहित बनेगा, उतनी ही निर्णायक शक्ति सन्तुलित होकर भेद-विज्ञान की क्रियान्विति को सफलता की ओर ले चलेगी। भ्रम कटेगा तो भेद-विज्ञान फलेगा ही। उसका यह फलना निर्णायक एवं कर्मठ शक्तियों पर आधारित रहेगा। इनका कार्य-संचालन परस्पर सम्बन्धित एवं परस्पर अनुपूरक होगा। निर्णायक शक्ति के बल से पुरुषार्थ वृत्ति को सही दिशा मिलेगी तो ज्यों-ज्यों पुरुषार्थ वृत्ति सफलता की ओर आगे बढ़ेगी—उससे चारों ओर समता का वातावरण बनने लगेगा और उस प्रभाव से निर्णायक शक्ति भी सुस्पष्ट और सुदृढ़ होती चली जायेगी।

ये दोनों शक्तियां जब इस तरह तालमेल बिठा कर समूची प्रगति के हित में काम करेंगी तो भ्रांतियां स्वतः ही नष्ट होती चली जाएंगी एवं भेद-विज्ञान के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्ष प्रभावशाली बन सकेंगे। आत्मा की अन्तरतम भावनाओं में जब परमात्म-स्वरूप को पा लेने की ललक तीव्रता से जग उठेगी, तब वर्तमान जीवन के सभी पहलू त्याग और बलिदान से भर उठेंगे तथा स्वार्थ के प्रबल शत्रु से उसे मुक्ति मिल सकेगी। स्वार्थ घटता है तो विषय-कषाय भी कटती है तथा इसके साथ ही जीवन में सहजता और निर्मलता का उदय होता है। यही सहजता जब अपने विकास के अन्तिम बिन्दु तक पहुंच जाती है, उसे ही तो सिद्ध स्वरूप की संज्ञा दी गई है। यह सहजता शरीर-सहित आत्मा के समस्त बन्धनों से मुक्त होने पर ही प्राप्त हो सकती है।

निर्णयशून्य ज्ञान वृथा है

ज्ञान जानकारी है तथा सम्यक् ज्ञान सही जानकारी है, लेकिन उसके अनुसार अपने कार्यों को ढालना पग-पग पर लिये जाने वाले स्वस्थ निर्णयों के फलस्वरूप ही संभव बन सकता है। यदि निर्णय ले सकने की क्षमता नहीं है तो कर्मठता के पांव उठ नहीं सकेंगे और बिना कर्मठता के भला ज्ञान का मोल ही कितना माना जा सकता है?

सामान्य समस्याएं भी जब सामने आती हैं तो अधिकांश व्यक्ति अधिकांश अवसरों पर सही निर्णय लेने में असमर्थ रहते हैं। वैसी अवस्था में सामान्य ज्ञान के लिये भी कहा जाता है कि यह वृथा है किन्तु जहां आत्मा के विकास एव सामाजिक जीवन के सुधार की वृहद् समस्या हो तो सोचिये कि उन पर कितनी गंभीरता से विचार करके सम्यक् निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। सकल वस्तु-स्वरूप का जब तक अन्तर में यथार्थ निर्णय नहीं उपजे तो परमात्मा के दर्शन एवं उनके दिव्य स्वरूप पर मार्मिक चिन्तन की वृत्ति कैसे सुघड़ बन सकती है? प्रार्थना की जाती है और अगर उसका बाहरी दृष्टि से ही आप उच्चारण करके रह गये, उसके गूढ़ार्थ में आप चिन्तनशील नहीं बने तो भेद-विज्ञान आपके समक्ष स्पष्ट कैसे हो सकता है और कैसे उस विज्ञान में पारंगत बनने तथा साधना में निरत होने का आप निर्णय ले सकते हैं?

वास्तविकता तो यह है कि ज्ञानार्जन करने में भी निर्णय करने की शक्ति का अस्तित्व होना चाहिये। ज्ञान के नाम से जितने तरह की जानकारियां सुनने और समझने को मिलती हैं, उन में भी सत्य और मिथ्या का निर्णय करने की योग्यता का होना अनिवार्य है।

ज्ञानार्जन और निर्णय

ज्ञानार्जन में निर्णय की महत्ता एक उदाहरण से स्पष्ट की जाय। समुच्चय रूप में किसी ने कह दिया कि आत्मा एक है। यह कथन सुन लिया गया किन्तु इस कथन के अन्दर निर्णय नहीं है। आत्मा सामान्य दृष्टि और उपयोगी लक्षण की परिभाषा से सात नयों में से एक नय की अपेक्षा से एक है। इस कथन पर भी जब तक सातों नयों की सभी अपेक्षाओं से विचार नहीं करें तब तक यथार्थ धरातल पर यह निर्णायक नहीं बनता है। यदि एक ही आत्मा है तो फिर ये भिन्न-भिन्न रूप क्यों? यदि एक ही आत्मा है तो एक का ज्ञान होने पर सब आत्माओं का ज्ञान क्यों नहीं हो जाता? तब एक रोग से सभी शरीरधारी आत्माएं रोगी हो जाएंगी और एक की मृत्यु से सभी की मृत्यु एक साथ हो जाएगी। लेकिन यह प्रत्यक्ष स्थिति नहीं है। 'एगे आया'

यह शास्त्र–वाक्य है और सत्य है किन्तु इस वाक्य को भी सभी अपेक्षाओं से समझना पड़ेगा ।

नयवाद, सापेक्षवाद, स्याद्वाद या अनेकान्तवाद की जो जैन दर्शन की मौलिक विचारधारा है उसके मूल में निर्णायक शक्ति की ही महत्ता छिपी हुई है । ज्यों–ज्यों ज्ञानार्जन किया जायगा, त्यों–त्यों सत्य के विविध रूप भी सामने आएंगे और असत्य के हजारों रूप भी होंगे । इन सब के बीच निर्णायक शक्ति न सिर्फ सत्य के अन्यान्य रूपों की परख करेगी बल्कि उन रूपों में सामंजस्य बना कर भेद–विज्ञान को समग्र रूप से हृदयंगम भी करायेगी । मिथ्या से दूर रहना और सत्य को धारण करना— ज्ञानार्जन की अवस्था में यह सम्यक् निर्णायक–शक्ति से ही बन पड़ेगा ।

भेद विज्ञान, साधना और निर्णय

आत्मा एक है— इसको जब सभी अपेक्षाओं से समझने का यत्न होगा तो भेद–विज्ञान की गहराइयां समक्ष आएंगी । आत्मा की निर्णायक-शक्ति एक अपेक्षा से यह कहेगी कि अपनी आत्मा और सिद्ध की आत्मा मूल स्वरूप से एक है किन्तु अभी जो पर्याय–भेद है, उसे अपनी साधना के बल से दूर करना होगा । ज्ञानार्जन की अवस्था में सम्यक् निर्णय से भेद–विज्ञान स्पष्ट होगा तो साधना की अवस्था में सम्यक् निर्णय से पुरुषार्थ एवं त्याग की भावना को बल मिलेगा ।

आत्मा में निर्णायक शक्ति की अभिव्यक्ति होने पर यह समझा जा सकेगा कि आत्माएं जितनी हैं, आत्मिक भाव की दृष्टि से एक हैं लेकिन उन सबका स्वतंत्र अस्तित्व अलग–अलग है । सब अपने-अपने स्वरूप के रूप में रही हुई हैं । सभी के भिन्न-भिन्न क्रम हैं— भिन्न-भिन्न पुरुषार्थ हैं तथा विकास के भिन्न-भिन्न तरीके हैं । इन दृष्टियों के साथ वर्तमान मानव जीवन की पर्याय में रहने वाले आप चैतन्य स्वरूप जब भेद-विज्ञान को गंभीरतापूर्वक समझने का यत्न करेंगे और यह यत्न भी योग्यता की दृष्टि से अपने आपको सिद्ध-स्वरूप समझ कर करेंगे, तब आपको अनुभव होगा कि सिद्ध स्वरूप की वास्तविकता तक पहुंचने के लिये अपने मन, वचन और कर्म को किस रूप में ढालने में किस प्रकार के निर्णय करने होंगे ?

निर्णय के बाद तन्मयता

ज्ञान और साधना के मार्ग पर स्वस्थ निर्णय ले लेने के उपरान्त तन्मयता की आवश्यकता होगी । सामान्य स्थिति में भेद-विज्ञान नहीं आता—

निर्णायक स्थिति में आता है और उसके बाद गहरी आस्था का जो फैलाव होगा—उससे तन्मयता का विकास हो सकेगा। कवि की पंक्तियों में यही संकेत है—

मत मतभेदे रे जो जई पूछिये सहु थापे अहमेव ।
सामान्ये करि दर्शन दोहिलु निर्णय सकल विशेष ।।

मतभेदों के बीच सभी अपने-अपने अहं को थोपना चाहते हैं, अतः निर्णायक शक्ति से ही उन सब के बीच अपना सही मार्ग सुस्थिर किया जा सकता है। इस स्थिरता से ही तन्मयता की स्थिति बनती है और चारों ओर जो भ्रान्तियां, अज्ञान एवं अशान्त दशाएं घेरा डाले बनी रहती हैं—उनसे पूरे तौर पर छुटकारा पाया जा सकता है।

सम्यक् निर्णय की विजय सुनिश्चित

अपने अन्तर्मन में इस सत्य की गांठ बांध लीजिए कि जिस आत्मा में सम्यक् निर्णय ले सकने की क्षमता पैदा हो गई, उसकी सांसारिक और धार्मिक दोनों क्षेत्रों में विजय सुनिश्चित है। यह विजय कोई शस्त्रास्त्रों और हिंसा के बल पर पाई जाने वाली विजय नहीं. बल्कि आत्मसंयम, कर्मजय एवं त्याग के धरातल पर प्राप्त होने वाली विजय होगी। पहले अपने मन को जीतना होगा, निर्णायक बनाना होगा और समता की श्रेणियों में उसे ढालना होगा, तब जीवन में उभरने वाली विजय अपनी स्नेहमयी प्रेरणा से सारे संसार को प्रभावित करेगी।

मैं यही संकेत देना चाहता हूं कि अपने जीवन में प्रत्येक कार्य के अन्दर इसे जीवन का पहला सूत्र मान कर निर्णायक पद्धति का विकास कीजिये, जो अपनी चिन्तन की भूमिका पर होगा। और इस पद्धति को शनैः-शनैः शक्ति रूप में बदल कर भेद-विज्ञान के साथ प्रभु की प्रार्थना कीजिये।



प्रार्थना याचना नहीं है



द्वितीय प्रवचन

दिनांक १६ सितम्बर, १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

यह परमात्मा की प्रार्थना है और यहां तो परमात्मा का नाम ही अभिनन्दन है। अभिनन्दन वही, जो अभिनन्दन करने के योग्य हो और सत्य यह है कि प्रभु का अभिनन्दन तो सदैव से किया जाता ही रहा है। जिन्होंने अपनी आत्मज्योति को पूर्ण रूप से प्रज्वलित करली, वे वस्तुतः अभिनन्दनीय बन ही गये। किन्तु जो आत्माएं अपने जीवन में अभी तक उन दिव्य गुणों को प्रकट नहीं कर सकी हैं, उन आत्माओं के लिये प्रभु के अभिनन्दन स्वरूप, उनकी प्रार्थना एक अति महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान होता है।

प्रार्थना एक कड़ी है

कड़ी दो चीजों को जोड़ती है और इस तरह प्रार्थना भी अपने सच्चे अर्थों में दो तत्त्वों को जोड़ने वाली कड़ी होती है। ये दो तत्त्व हैं—आत्म-तत्त्व और परमात्म-तत्त्व। असल में इन दोनों में तत्त्व-भेद नहीं है, केवल पर्याय भेद ही उसे कह सकते हैं। दोनों तत्त्व मूल रूप में एक ही हैं—आत्मा ही जब अपने समस्त कर्म-मैल को धो डालती है, तब वही परमात्मा बन जाती है। एक तत्त्व मैला है तो दूसरा तत्त्व स्वच्छ है। एक दर्पण होता है, धीरे-धीरे उस पर मैल जमता जाता है। कभी उस पर इतना मैल होता है कि आकृति दिखाई तो देती है किन्तु कुछ धुंधली दिखाई देती है और कभी इतना भी मैल जम सकता है कि उस के सामने जाने पर उसमें तनिक भी प्रतिच्छाया नहीं दिखाई दे। और जब वह पूर्णतः स्वच्छ होता है तो शायद है स्वयं आकृति से भी अधिक स्वच्छ प्रतिच्छाया उसमें दिखाई दे। यही रूपक आत्मा के साथ घटाया जा सकता है। कर्म-मैल के अन्तर से आत्मा के मैले और स्वच्छ स्वरूप में अन्तर होता है और जब वह पूर्णतः स्वच्छ हो जाता है तो वह स्वरूप परमात्म-स्वरूप में ढल जाता है।

प्रार्थना मलिन-स्वरूपी आत्मा को स्वच्छ-स्वरूपी परमात्मा के दिव्य-स्वरूप की झलक दिखा कर मलिन को स्वच्छ बनने की दिशा में अग्रसर होने के लिये प्रेरित करती है और इस प्रकार पर्याय-भेद की दृष्टि से पृथक् दो तत्त्वों को परस्पर जोड़ने का प्रयास करती है, याने कि आत्मा अपनी मलिनता

धोकर प्रार्थना के माध्यम से परमात्म-स्वरूप के दर्शन करती है । यही कड़ी प्रार्थना की है ।

क्या प्रार्थना याचना है ?

प्रार्थना का सामान्य अर्थ याचना के रूप में लिया जाता है। याचना का अर्थ होता है मांगना—जैसे कि एक भिखारी मांगता है । रोटी के एक टुकड़े के लिये यहां से वहां वह हाथ फैलाता फिरता है । भिखारी का हाथ ऐसा होता है, जिसमें अन्तर-दृष्टि नहीं होती है । वह दातार के सामने भी हाथ फैलाता है और कंजूस के सामने भी । अन्न की अतितृष्णा से भिखारी में यह विचार नहीं उठता कि वह किसके सामने हाथ फैलावे और किसके सामने नहीं फैलावे ? किसी भी तृष्णा के वशीभूत होकर जो हाथ फैलाया जाता है, उसे याचना कहा जा सकता है किन्तु प्रभु के दिव्य स्वरूप का चित्रण करने वाली जो प्रार्थना है, उसमें और याचना में दिन-रात का अन्तर है ।

इस कारण अपने सामान्य अर्थ में भी प्रार्थना को याचना कहना गलत होगा । जहां किसी भी तृष्णा की लालसा में कैसी भी याचना जीवन की दृष्टि से अंधकारपूर्ण होती है, वहां प्रार्थना आत्मा के लिये जागृति-सूचक बन कर प्रकाशमान रूप धारण किये रहती है। याचना में शुद्ध रूप से लेने-देने की स्थिति होती है— दातार कुछ देता है और याचक कुछ लेता है। यह अलग बात है कि दातार कंजूस मिल जाय और मांगने पर भी कुछ नहीं दे किन्तु याचक की लेने की भावना तो होती ही है । किन्तु प्रार्थना में लेन-देन का कोई वास्ता नहीं होता ।

परमात्मा से क्या भौतिक पदार्थ मांगें ?

जो प्रार्थना के स्वरूप को सही दृष्टि से नहीं समझते हैं, वे प्रार्थना को भी याचना का रूप ही देते हैं और यह मानते हैं कि प्रार्थना के माध्यम से देवी-देवताओं और ईश्वर से कुछ मांगनी की जाय । किन्तु सही स्थिति यह है कि जब आत्मा को परमात्म-स्थिति प्राप्त होती है तो उसका संसार और संसार के समस्त भौतिक पदार्थों से कोई भी संबन्ध नहीं रहता है। वह आत्मा, परमात्मा बन कर एकदम ज्योति-स्वरूप बन जाती है । अब जिस का सम्बन्ध किसी भी रूप में भौतिक पदार्थों से नहीं रह गया हो और कोई उससे भौतिक पदार्थों की याचना—प्रार्थना करे तो क्या वह कामयाब होगी ? जिस के पास जो चीज है ही नहीं, वह उसे किसी को भी देगा कैसे ?

अतः यदि परमात्मा से प्रार्थना के जरिये भौतिक पदार्थों की उपलब्धि

की कामना की जाती है तो निश्चित रूप से यह मानिये कि प्रार्थना करने वाले ने अभी तक परमात्मा के सत्य-स्वरूप का अंकन ही नहीं किया है। विश्व में भौतिक पदार्थों की पूर्ति के अन्य अनेक साधन हो सकते हैं किन्तु परमात्मा निश्चय ही ऐसी पूर्ति के कतई साधन नहीं हैं। प्रभु से भौतिक तत्त्वों की याचना उनके अनुरूप नहीं है।

तब उनसें क्या याचना करे ?

जव परमात्मा से भौतिक पदार्थों की याचना उनके अनुरूप नहीं है, तब यह विचार उठना स्वाभाविक है कि फिर कौन-सी याचना उनके अनुरूप है?

जहां तक शक्ति और समृद्धि का प्रश्न है, परमात्मा अपने समग्र स्वरूप से परिपूर्ण हैं और अनन्त-शक्ति के स्वामी वन कर सारे विश्व का अवलोकन कर रहे हैं। वे किसी भी रूप में किंचित् मात्र भी हीन नहीं हैं, फिर भी एक अन्य स्थिति उनके साथ है और वह यह कि उनका संसार से कोई संवन्ध नहीं है—भौतिकता से कोई नाता नहीं है। वे निरपेक्ष भाव से अपने में ही स्थित होते हैं। अतः जव भी कोई याचना उनसे करने का भाव पैदा हो तो इस स्थिति को ध्यान में रख कर वैसी याचना करनी चाहिये।

यह स्पष्ट हो गया कि उनसे भौतिक पदार्थों की याचना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वे उनकी पूर्ति नहीं करते। लेकिन फिर भी प्रश्न खड़ा है कि तब उनके अनुरूप उनसे किस वात की याचना की जाय? प्रभु कौन-सी याचना की पूर्ति अवश्य करेंगे, यह प्रश्न भी वास्तव में विचारणीय है। भौतिकता से हट कर हम आध्यात्मिकता की वात की ओर मुड़ें। हम सभी सोचते हैं कि हमारा आज का यह मलिन स्वरूप भी एक दिन अलौकिक वन कर प्रकाशित हो, जीवन के पूर्ण विकास की दृष्टि से हमारी समग्र आन्तरिक वृत्तियां पवित्रतम वन जावें। यह भी एक भावना है और सोचना है कि इस भावना की भी पूर्ति स्वयं भगवान् करेंगे या नहीं ?

स्वयं भगवान् वनने की भावना

सांसारिक या भौतिक कामनाओं को छोड़ दीजिये किन्तु क्या भगवान् से आप भी स्वयं भगवान् वनने की याचना करें तो क्या भगवान् अपनी आन्तरिक शक्तियों को निकाल कर आपको दे देंगे? क्या परमात्मा अपने तेज को आपकी आत्मा में डाल देंगे? क्या किसी भी आध्यात्मिक भावना की भी पूर्ति आपके कुछ भी किये विना भगवान् कर देंगे? यह सही है कि भगवान् ऐसा कुछ भी नहीं करते। न तो भगवान् अपनी

शक्तियों को, वृत्तियों को और न गुणों को किसी दूसरे को दे सकते हैं, न अपने तेजोमय प्रकाश को ही दूसरों में वितरित कर सकते हैं ।

अतः स्वयं भगवान् बनने की भी भावना है तो साधना के पथ पर चलना होगा और स्वय विकास की सीढ़ियों पर चढ़ना होगा । परमात्मा का स्वरूप तो अपने आप में परिपूर्ण तथा अपने भीतर तल्लीन है । वे किसी भी याचना की पूर्ति करने वाले नहीं हैं । इस कारण अपने मन में यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यदि प्रभु की प्रार्थना करनी है तो उसमें किसी प्रकार की याचना, वासना या कामना नहीं होनी चाहिये ।

तव प्रार्थना क्यों और किसके लिये ?

इतने सारे विश्लेषण के बाद प्रभु-प्रार्थना में रुचि रखने वाले किसी भी भावुक-मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि तब यह प्रार्थना क्यों और किसके लिये की जाय ? परमात्मा न तो भौतिक उपलब्धियां जुटाते हैं और न आध्यात्मिक भावनाओं की ही पूर्ति करते हैं, फिर उनकी प्रार्थना का कौन-सा उपयोग बच रहेगा ? तब क्या उनकी प्रार्थना में खर्च किये गये समय का अपव्यय नहीं होगा ? जब भगवान् कुछ लेते-देते नहीं हैं तो उनसे फिर किस प्रकार का सम्बन्ध रखें ?

प्रश्न तर्क की दृष्टि से योग्य है किन्तु इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति पर अवश्य ही चिंतन किया जाना चाहिये । दर्पण के सामने जब आप खड़े होते हैं तब क्या वह आपको कुछ देता-लेता है ? हां, उसमें आपकी आकृति जब प्रतिबिम्बित होती है तो आपको अपने स्वरूप का भान होता है कि उसका बाहरी दिखावा कैसा है ? इसी प्रकार सिद्ध-स्वरूप को दर्पणवत् मान लीजिये और प्रार्थना वह माध्यम है, जिससे आप इस दर्पण के समक्ष पहुंचते हैं, याने कि पूर्ण स्वरूप के सामने जब अपने स्वरूप की तुलना की जाती है तो उससे पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ जागता है । परमात्मा कुछ लेते-देते नहीं किन्तु उनके पूर्ण स्वरूप पर चिंतन एवं दर्शन की दृष्टि डालने से जीवन-विकास की दिशा प्रकाशित होती है । यही प्रार्थना की सबसे बड़ी उपलब्धि है और इसे ही प्रार्थना का उद्देश्य माना जा सकता है ।

परमात्मा जिस स्वरूप में जहां स्थित हैं, वहां हैं । प्रार्थना से न तो हमें उनसे कोई याचना करनी है, न वे हमारी प्रार्थना से किसी भी प्रकार से प्रभावित होते हैं । प्रार्थना से सिर्फ हमीं उनके स्वरूप का दर्शन करके वैसे ही स्वरूप में ढलने का अपना संकल्प सुदृढ़ बनाते हैं तथा उस दिशा में आगे बढ़ने

का अपना पुरुषार्थ प्रारम्भ करते हैं । प्रार्थना 'क्यों और किसके लिये' का यही स्पष्ट उत्तर है ।

स्वरूप-तुलना का सत्प्रयास

संसार में तुलना का बड़ा महत्त्व होता है । कोई अच्छा है या बुरा है—ये स्वयं तुलनात्मक स्थितियों के द्योतक शब्द हैं । जितनी प्रतियोगिताएं हैं, वे तुलनात्मक स्पर्धाएं ही तो होती हैं । यदि तुलना में स्वस्थ दृष्टिकोण रहता है तो वह तुलना विकास के लिये सबल प्रेरणा बन जाती है । प्रार्थना के द्वारा भी ऐसी ही स्वस्थ तुलना का दृश्य अपने सामने अंकित किया जा सकता है ।

परमात्मा का जो पूर्ण स्वरूप है—अतिशय निर्मलता और अनन्त शक्ति वाला, वह एक प्रकार से संसारी आत्माओं के लिये आदर्श साध्य के रूप में है । उस पूर्णता के सामने जब विनम्रभाव से हम अपनी अपूर्णता को रखते हैं तो हमें भान होता है कि उस पूर्णता के सर्वोच्च विन्दु से हमारी अपूर्णता कितनी नीची है और यही भान हमें अपनी पतनावस्था से जागृत बना सकता है ।

आप यह खयाल बनालें कि आपकी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं जाएगी। ऐसी प्रार्थना प्रभु के चरणों में जिस रूप में और जिस भावना से आप रखेंगे, वैसी ही भावना का संचार आपके अन्तर-मानस में होगा । प्रार्थना की पंक्तियों के उच्चारण और उन पर गहन चिंतन के साथ आप परमात्मा के स्वरूप को शुद्ध रूप में देखेंगे और इससे आपके हृदय का मैल धुलने लगेगा और शुद्धता का विस्तार होगा । जब स्वरूप-तुलना का ऐसा सत्प्रयास प्रार्थना के रूप में बराबर होता रहेगा, तभी स्पष्ट समझ में आएगा कि लेने-देन के सौदे से ऊपर उठने के बाद ही प्रार्थना का आन्तरिक महत्त्व प्रकट होने लगता है ।

प्रार्थना हंस की चोंच साबित होगी

आप अनुभव करेंगे कि प्रार्थना किसी भी दृष्टि से व्यर्थ नहीं है । अन्तर्जागरण के बाद प्रार्थना ही आपको परीक्षा-बुद्धि देगी कि स्वरूप की पूर्णता के लिये कौन-से गुण अपनाए जाने चाहिये ? प्रार्थना आपके जीवन में हंस की चोंच का काम करेगी । आप हंस की चोंच की परीक्षा-शक्ति जानते होंगे कि वह दूध और पानी को अलग-अलग कर देती है अर्थात् सार और निस्सार को छांट सकती है ।

प्रार्थना में भी ऐसी ही शक्ति है कि वह इस जीवन में क्या हेय

और क्या उपादेय है—इसकी स्पष्ट जानकारी करा दे। साध्य की ओर जब प्रार्थना के जरिये देखने की नजर साफ हो जाती है तो उसकी रोशनी में ही हेय और उपादेय तत्त्वों की भी परीक्षा-बुद्धि पैनी बन जाती है। यदि प्रार्थना की पंक्तियों का अर्थ आत्मा की आन्तरिकता में प्रविष्ठ हो जाय तो वह दूध और पानी की तरह आत्मा के मूल स्वभाव और कर्माच्छादित विकृति का अलग-अलग विभक्तिकरण कर देगी। जहां एक बार कर्मों की छंटनी की वृत्ति जग गई तो समझिये कि उस आत्मा में कर्मों के उपशम एवं क्षय का पराक्रम भी जागृत हो जाएगा।

दूध-पानी की मिलावट ही बड़ी खोट है

जैसे शुद्ध दूध में पानी मिला दिया जाय तो दूध का स्वरूप विकृत हो जाता है, उसी प्रकार अनादिकाल से आत्मा का दूध जो कर्मों के पानी में रल-मिल रहा है, वही सबसे बड़ी खोट है। इसी मिलावट की खोट के कारण आत्मा अपना भेद-विज्ञान नहीं समझ पा रही है और अपने शुद्ध स्वरूप को समझने में भी भ्रमग्रस्त हो रही है। वैसे जागृत आत्माएं अपनी बौद्धिक-शक्ति स्वरूप-ज्ञान में लगाती भी हैं, तब भी उसमें हंस की चोंच का रूपक नहीं बैठने से परीक्षा-बुद्धि के साथ भेद-विज्ञान की स्थिति प्रकट नहीं हो पाती है। भेद-विज्ञान आत्मा को तभी मिलेगा, जब हंसवृत्ति से दूध और पानी की तरह आत्म-प्रदेशों एवं कर्म पुद्‌गलों को पृथक्-पृथक् कर दिया जाएगा।

यह पृथक्करण प्रार्थना के अभ्यास से ही संभव हो सकता है। प्रार्थना से तुलना साफ होगी और उससे बाद परख-बुद्धि पनपेगी, जिसके बल पर दूध-पानी की मिलावट को अलग-अलग छांटा जा सकेगा। ज्यों ही इस खोट को मिटाने की जागृति आती है तो उसके साथ कर्म-शत्रुओं से संघर्ष करने की साहसिकता भी जन्म लेती है। प्रार्थना के माध्यम से परमात्मा के स्वरूप को जब देखते हैं कि वे समग्र गुणों के स्वामी बन गये और हम अब भी भयंकर दुःखों की पीड़ा में छटपटाते फिरते हैं और जानते हैं कि इस का कारण हमारी ही कर्म-संलग्नता है तो दुःखों के मूल को मिटा डालने के लिये साहसिकता का पैदा होना स्वाभाविक बन जाता है।

प्रार्थना कतई याचना नहीं है

इस दृष्टि से प्रार्थना का जो महत्त्व है, वह महत्त्व अन्य सभी तत्त्वों से बढ़ा-चढ़ा है, बशर्ते कि प्रार्थना में किसी भी रूप में याचना की लालसा या दीनता का प्रवेश नहीं हो। जहां हमने कुछ लेने की लालसा की, वहां

प्रार्थना की शुद्धता नष्ट हो जाएगा । प्रार्थना किसी भी प्रकार से व्यापार नहीं, वह तो आत्मा का साक्षात्कार है ।

किन्तु जो अज्ञानी आत्माएं प्रभु की प्रार्थना किसी न किसी याचना की दृष्टि से करती हैं वे न तो प्रभु के स्वरूप का और न ही प्रार्थना के महत्त्व का ही सही ज्ञान कर पाती हैं । ऐसा प्रार्थी अपनी प्रार्थना एक आडम्बर के रूप में करके आत्म-प्रवंचना के साथ सन्तुष्ट और निष्क्रिय होकर बैठ जाता है कि उसने परमात्मा को खुश कर लिया है और अब तो सारी उपलब्धियां परमात्मा की ओर से उस तक पहुंचती ही होंगी। यह प्रार्थना का सर्वथा याचक रूप हो जाता है, जब कि प्रार्थना किसी भी दृष्टि से कतई याचना नहीं है । प्रार्थना एक प्रकार से पुरुषार्थ की भावना का सजीव रूप होती है । यह तभी हो सकता है, जब यह दृष्टि रखी जाय कि मेरा अन्तःकरण जो राग-द्वेष, विषय-कषाय और अन्य विकारों से कलुषित हो रहा है, उस कलुष को परमात्म-स्वरूप के दर्पण में देख और पहिचान कर मैं उसे धोने का सत्पुरुषार्थ करूं । यह सत्पुरुषार्थ ही कर्मों की छंटनी का होगा, जिस से आत्म-स्वरूप निखरता जाएगा ।

प्रार्थना, संकट में महान् बल

आत्म-स्वरूप की पुष्ट अनुभूति के साथ प्रार्थना ऐसा बल प्रदान करती है कि सामने चाहे जैसा संकट उपस्थित हो जाय, प्रार्थना करने वाला कभी उसके सामने डिगता नहीं है । प्रार्थना और शुद्ध हृदय से सच्ची प्रार्थना करने वाले की आत्मा बलवान बन जाती है, वह किसी भी संकट से सफलतापूर्वक संघर्ष करने में सक्षम होता है ।

प्रार्थना के बल को साथ लेकर संकटापन्न स्थिति में भी जिसने मस्ती से रहने की कला सीख ली, वास्तव में उसी की प्रार्थना सच्ची है—यह मानना चाहिये और ऐसे व्यक्ति के जीवन का स्वरूप कुछ और ही प्रकार का नवीन आनंद देने वाला बन जाएगा ।

आसक्ति छोड़ो : प्रार्थना करो

जब तक मन में से आसक्ति का भाव नहीं निकलता, तब तक लालसा बनी रहती है और इस लालसा को ही आसक्ति कहते हैं । आसक्ति चिपकी रहती है तो याचना भी नहीं छूटती है । आसक्ति ही परिग्रह का मूल है और इसके रहते हुए सच्ची प्रार्थना संभव नहीं होती । आसक्ति वाले को चाहिये ही चाहिये और सच्ची प्रार्थना करने वाले को कुछ भी नहीं चाहिये । फिर दोनों का मेल कैसे हो ?

या तो आसक्ति रख लो अथवा प्रार्थना ही कर लो । दोनों में से एक ही सम्भव बनेगी ।

इस विन्दु पर आपको गम्भीरता से सोचना है कि प्रतिदिन आप यहां प्रभु की जो प्रार्थना करते हैं, वह सच्चे अनासक्त हृदय से करते हैं अथवा प्रार्थना का ढोंग करते हुए आसक्ति के दलदल में ही फंसे हुए हैं । इसी के उत्तर से आप अपने लिये अनुमान लगावें कि आप कोरे याचक हैं या सच्चे प्रार्थना करने वाले ?



समता का अमृत





तृतीय प्रवचन

दिनांक १७ सितम्बर १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

"हेतु विवादे हो चित्त धरि जोइये................"

अभिनन्दन परमात्मा की प्रार्थना की पंक्तियों का ही उच्चारण चल रहा है। परमात्म-स्वरूप के दर्शन की अभिलाषा जब तीव्र बनती है तो प्रार्थना का सिर्फ जिह्वा से ही उच्चारण नहीं होता, बल्कि उसका गूढ़ार्थ मन और मस्तिष्क में रम कर साक्षात्कार की उत्कंठा को उग्र बना देता है। इस साक्षात्कार के लिये संसार में मानव विविध प्रकार के साधनों को काम में लेता है, किन्तु जब सफलता नहीं मिलती है तो कई बार वह ऊब जाता है और हताश-सा हो जाता है। उत्साहहीनता की ऐसी अवस्था में यदि बुद्धि और विवेक को जागृत किया जाय और हेतु एवं तर्क की दृष्टि से सारी समस्या पर गंभीर चिन्तन किया जाय तो अवश्य ही वांछित समाधान खोज कर निकाला जा सकता है।

हेतुवाद का आधार

प्रार्थना में कवि आनन्दघन कहते हैं—

हेतु विवादे हो चित्त धरि जोइये, अति दुर्गम नयवाद।
आगमवादे हो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विषवाद॥

साध्य की साधना में हेतुवाद का आधार इसलिये लिया जाना चाहिये ताकि कारण के ज्ञान से साधन सशक्त बन सके और उससे साध्य की प्राप्ति सुलभ हो जाय। हेतुवाद के आश्रय में तर्क की उत्पत्ति होती है तथा वाद-विवाद के होने से दोनों पक्षों का समुचित ज्ञान हो जाता है। दोनों पक्षों का भी स्पष्ट ज्ञान तभी होता है, जब उन्हें सभी अपेक्षाओं से जाना जाय। इसका साधन है—नयवाद। सत्य का एक पक्ष ही नहीं होता और नयवाद उसे सभी रूपों में स्पष्ट करता है। यही कारण है कि नयवाद को अति दुर्गम बताया गया है क्योंकि एक वस्तु-स्वरूप को उसके सभी रूपों में जानना और देखना गम्भीर दृष्टि से ही सम्भव होता है।

नयवाद अकेला भी सत्य से साक्षात्कार करादे—यह शक्य नहीं है। सात नयों की अपेक्षा से तर्क-वितर्क के आधार पर जो वस्तु-स्वरूप सामने

आता है, उसके ज्ञान में आगमवाद के बिना पूर्णता नहीं आ सकती है। वीतराग-वाणी का संग्रह ही आगम कहलाता है । आगम में सर्वश्रेष्ठ ज्ञान संचित है, जो एक प्रकार से वीतराग पुरुषों की ज्ञान एवं कर्म-साधना का साररूप है। फिर भी सत्य के साक्षात्कार के लिये आगम से भी आगे गुरुगम की जरूरत होगी । गुरुगम वह ज्ञान है, जो गुरु से शिष्य को नित्यप्रति प्राप्त होता रहता है। यह भी गुरु के ज्ञान एवं कर्म-साधना का सार ही होता है किन्तु इस सार का सम्बन्ध वर्तमान समय से होता है, अतः उसकी उपयोगिता सर्वोपरि हो जाती है ।

हेतुवाद का आधार लेकर जब नयवाद और आगमवाद से आगे गुरुगम तक गति की जाती है तो प्रभु के दर्शन या सत्य का साक्षात्कार उस साधक के लिये सुलभ हो सकता है ।

गुरुगम ज्ञान की महत्ता

आगम का अर्थ इन्सान व्याकरण और न्याय से निकाल सकता है, किन्तु जब तक वह गहरे नहीं उतरे, यह अर्थ-विन्यास पैनी बुद्धि के बिना नहीं किया जा सकता है । जब इस आगम-ज्ञान के साथ गुरुगम ज्ञान मिलता है तो उससे प्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण स्वानुभूति का जागरण सरल बन जाता है। यदि आज की समाज-व्यवस्था पर एक दृष्टिपात किया जाय तो दिखाई देगा कि चारों ओर विषमता बुरी तरह से फैल रही है । हेतुवाद से लेकर गुरुगम ज्ञान तक की साधना से ही इस विषमता के सही कारणों को समझ पाना आसान होगा ।

गुरुगम-ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभवों पर अधिक आधारित होने से दृष्टि को विषमता के संदर्भ में भी स्पष्ट बनाता है कि विषमता का मूल मनुष्य के मन में होता है, जिसे हम कहते हैं भेद-भाव । जब विचार में भेद जन्म लेता है तो यह भेद मनुष्य के आचरण में हिंसा को पैदा करता है । विचार का भेद और आचार की आक्रामकता मिल कर समाज में जिस प्रकार की व्यवस्था को फैलाते हैं, वही विषमता का मूर्तरूप प्रदर्शित करती है । जीवन सम बने—समतामय बने—इसके लिये विषमता के हेतुओं को समझना और उसे मिटाने के उपायों को काम में लाना जरूरी हो जाता है । इसके सम्बन्ध में निर्देशन का मुख्य स्रोत गुरुगम ज्ञान ही हो सकता है, जो गुरु की ज्ञान एवं कर्म साधना के सार के साथ-साथ उनकी वर्तमान समीक्षा एवं निर्णय-क्षमता का भी प्रतीक होता है ।

मस्तिष्क और हृदय की एकरूपता

समस्याओं के समाधान में अधिकांशतः संकट इसलिये पैदा होते हैं कि ज्ञान-साधना की अवस्था में मस्तिष्क और हृदय की एकरूपता नहीं बनती है। आज इस युग के अन्दर मानव गुरु से ज्ञान लेने व उनसे आलोक पाने की भावना कम रखता है तथा सिर्फ मस्तिष्क पर बल देकर किताबी अध्ययन से विद्वान् बन जाना चाहता है। वक्तृत्व कला का अभ्यास करके और पुस्तकों के उद्धरण देकर वह जन-मानस पर अपनी विद्वत्ता की छाप डालना चाहता है। कोरा विद्वान् ऐसी छाप तो डाल सकता है किन्तु हृदय की अनुभूतियां मिलाये बिना वह न तो प्रभु के दर्शन कर सकता है और न ही सत्य का साक्षात्कार पा सकता है।

गुरु के साथ जब मस्तिष्क की उर्वरता और हृदय की तरलता लेकर ज्ञानार्जन के लिये कोई बैठे, उनके साथ शास्त्रवाचन करे और गहन तत्वों का अर्थ-विन्यास लगावे तो वह बाहरी आडम्बर भले न कर सके किन्तु अपनी सहजता में वह सत्य की ओर अवश्य बढ़ सकता है तथा समता को समग्र रूप से आचरण में लाने के लिये अपने सामर्थ्य को परिपुष्ट बना लेता है। आत्म विकास की शाश्वत समस्याओं एवं समाज की वर्तमान समस्याओं के समाधान में गुरुगम ज्ञान का इसी कारण विशेष महत्व माना गया है। संसार के विषम एवं अशांत वातावरण से जब कोई गुरु के चरणों में बैठता है तो एक सम परंपरा में ढले हुए विचार उसे मिलते हैं, जो उसे पूर्ण समतामय आचरण की ओर चलने के लिये प्रेरित करते हैं। किन्तु यह तभी संभव होता है, जब गुरु-गम ज्ञान के लिये मस्तिष्क एवं हृदय की एकरूपता लेकर विषमता के कारणों तथा समता के उपायों पर चिन्तन किया जाय।

विषम स्थितियों की पृष्ठभूमि में

चारों ओर जो विषमतापूर्ण स्थितियां दिखाई देती हैं, वे यद्यपि सामूहिक आचरण के उत्पादन के रूप में चलती हुई समझ में आती हैं किन्तु कैसी भी विस्तृत विषमता हो, उसका उदय मनुष्य के मन में ही होता है। यह उदय भेद-भाव के रूप में होता है। समानता की भावना से जब-जब और जहां-जहां मनुष्य गिरता है तो वह अपने मन में भेद-भाव की विषाक्तता धारण करता जाता है। मन में जब समता टूटती है तो उसका असर आचरण पर पड़े बिना नहीं रहता।

भेद-भाव के विचार मनुष्य के आचरण में बराबर हिंसा को स्थान

देते रहते हैं। भेद समानता की विरोधी स्थिति होती है। भेद का अर्थ है कि या तो अपने को बड़ा समझें या अपने को हीनमन्यता के साथ छोटा समझें। बड़ा समझने पर मदोन्मत्त हिंसा आती है और हीन समझने पर प्रतिक्रियात्मक हिंसा का जन्म होता है। अभिप्राय यह है कि जहां भेद-भाव आता है, वहां किसी न किसी रूप में हिंसा भी आती ही है। भेद-भाव और हिंसा जब एक व्यक्ति के जीवन को कलुषित बनाते हैं, तो यही कालुष्य धीरे-धीरे जब सामाजिक रूप धारण करता जाता है तो व्यापक विषमता का भयावह स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

विषमता की इस पृष्ठभूमि में गहरे उतर कर हेतुवाद से कारणों को ढूंढा जाय, नयवाद से सत्यांशों को मिलाया जाय, आगमवाद से ज्ञान के शाश्वत रूप को परखा जाय तथा गुरुगम-ज्ञान से प्रत्यक्ष अनुभवों पर आधारित विवेकपूर्ण आचरण को ग्रहण किया जाय तो निश्चय ही विषमता की जड़ों को काट कर समतामय जीवन की ओर मुड़ा जा सकता है।

भेद-भाव से हिंसा का फैलाव

जब एक दूसरे को छोटा-बड़ा समझने का विचार घर करता है तो वह विचार एक दूसरे को नीचे गिराने अथवा एक दूसरे का तिरस्कार करने की भावना को भी बल देता है। भेद-भाव कभी मन को शांत और स्थिर नहीं रहने देता, तब वह हिंसा के प्रदर्शन को उकसाता है। इस भावना से हिंसा के फैलाव को समझने के लिये पहले संक्षेप में हिंसा के रूपों को जरूर समझ लेना चाहिये। जैसा कि साधारणतः समझा जाता है कि हिंसा का अर्थ किसी को मारना ही होता है किन्तु इस स्थूल रूप से आगे हिंसा की सूक्ष्म व्याख्या बड़ी गहरी बताई है।

उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ-सूत्र में हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है—

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यतिरोपणं हिंसा—"

अर्थात् प्रमाद (आलस्य) के वश में होकर भी अगर किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण को चोट पहुंचाई जाती है तो वह हिंसा है। प्राण दस होते हैं—पांच इन्द्रियों के, तीन मन, वचन, काया के व दो श्वासोश्वास और आयुष्य के। केवल आयुष्य को समाप्त कर देना ही हिंसा नहीं है, बल्कि किसी भी प्राणी को कष्टित करना, कष्टित करने को कहना अथवा कष्टित करने को सोचना भी हिंसा के ही दायरे में आता है। स्थूल कष्ट से सूक्ष्मतम पीड़ा तक हिंसा का ही क्षेत्र चलता है।

हिंसा का हेतु प्रमाद माना गया है। प्रमाद की अवस्था को प्रमत्त-योग कहते हैं। प्रमाद ही राग-द्वेष की जटिलतम वृत्तियों तक विकसित होता जाता है। सबसे हलका रूप प्रमाद का होता है और जब प्रमाद भी हिंसा को करवाता है तो क्रूरतम वृत्तियां तो हिंसा का पोषण करती ही हैं। किन्तु प्रमाद को भी उसके सामान्य अर्थ—आलस्य मात्र से ही नहीं समझना चाहिये।

प्रमाद क्यों और कैसे होता है?

शास्त्रकारों ने प्रमाद की विशद व्याख्या के रूप में बताया है कि मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकृति—सबको मिला कर जो रूपक बनता है, उसे प्रमाद कहा जा सकता है।

इनमें से मद को पहले लें कि यह इन्सान के मस्तिष्क को किस प्रकार उन्मत्त बना देता है? मद के लिये कहा गया है कि वह मनुष्य को मतवाला बना कर सज्ञाशून्य कर देता है। अपनी संज्ञा को—अपने स्वरूप और भाव को जो भूल जाय, वह भ्रान्त योग के साथ हिंसा से सम्बन्ध जोड़ कर प्राणियों के प्राणों का व्यतिरोपण करने लग जाता है।

विश्व की वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को देखें तो लगेगा कि मदों में आज जातिमद सबसे ज्यादा घातक रूप लिये हुए है। जातिमद के नाम पर घृणित से घृणित काम करने को भी इन्सान तैयार हो जाता है। काले और गोरे के भेद के पीछे कितनी हिंसा, कितना अत्याचार एवं अन्याय अफ्रीकी देशों में सुना जाता है। वर्णभेद के अन्यायों का सिलसिला तो इस देश में आजादी के पच्चीस वर्षों बाद भी जघन्य रूप से चलता हुआ दिखाई देता है। भारत में तो जातिमद का रूपक काफी जटिल कहा जा सकता है। जाति की इस कट्टरता के पीछे साम्प्रदायिक झगडों, जातिगत विवादों और उपद्रवों के रूप में हिंसा का कितना तांडव होता रहता है—यह आप लोगों में से बहुत से भलीभांति जानते हैं।

जातिमद के कुत्सित दृश्यों को देखते हुए कहा जा सकता है कि समाज के जिस कृत्रिम विभाग को आपने जाति की संज्ञा दे रखी है और उस स्वजाति के नाम पर जो मानवता के साथ घृणा, तिरस्कार एवं अभिमान भरा व्यवहार किया जाता है, वह स्वाभिमान नहीं, जातिमद का ही घृणित रूप है।

जातिमद की जघन्यता

प्रमाद के अन्य कारणों पर विचार करने के पहले जातिमद की बुराई पर थोड़ा-सा विस्तार से सोच लें। विविध प्रकार के जातिमद के ही कुपरि-

गाम समझिये कि हिन्दू मुसलमानों के बीच रक्तपात होता है; सवर्ण और अछूतों के बीच घृणा की दीवारें खड़ी हैं तथा अलग-अलग जातियों के बीच झगड़े चलते रहते हैं। भारत भूमण्डल के जो दो विभाग हुए, वह जातिमद का ही कुफल है। एक जाति जब जातिमद से पागल बन कर दूसरी जातिवालों को हीन समझ कर व्यवहार करती है तब हिंसा व प्रतिहिंसा का क्रम चलता है और उससे विषमता की खाई चौड़ी होती रहती है।

जाति-मद के गर्व के साथ हीन-भावना से व्यवहार करना भी शास्त्रीय-दृष्टि से हिंसा ही है। छुआछूत का भेदभाव रख कर जो विषम व्यवहार किया जाता है, वह उचित नहीं कहा जा सकता है। कोई कह दे कि हरिजनों को हम अछूत इसलिये कहते हैं कि वे दारू-मांस काम में लेते हैं या कि अशुचि उठाते हैं, लेकिन यह तर्क सही नहीं है। दारू-मांस काम में लेने वाले सभी को आप अछूत नहीं मानते, फिर हरिजनों को ही क्यों ? और इन दुर्व्यसनों को छुड़ाने के लिये तो उनके साथ रह कर रचनात्मक काम करने की जरूरत है, न कि उनसे घृणा करने की। अशुचि उठाने की बात को भी जरा गहरी नजर से देखें कि माता बच्चे की अशुचि उठाती है तो क्या उसे छूते नहीं। फिर हरिजन तो माँ का पवित्र कार्य कर रहे हैं, तब उनके प्रति तिरस्कार की भावना रखना जातिमद का पोषण ही है।

अब एक नये जातिमद का भी रूपक बना है और वह है धनी और गरीब जातियों के बीच का भेदभाव। यह भेदभाव आज अधिक तीखा बनता जा रहा है और दोनों जातियों के बीच घृणा, हिंसा और विषमता को फैला रहा है।

वैभव प्रदर्शन की उन्मत्तता

जातिमद की तरह ही लोगों में वैभव-मद भी बढ़ता जा रहा है और लोगों में जितना वैभव बढ़ता जाता है, उसकी उन्मत्तता भी उतनी ही बढ़ती जाती है। तब उसका जो प्रदर्शन किया जाता है उससे गरीब और धनी के बीच विषमता और अधिक गहरी होती जाती है। अधिक आभूषण पहिन कर या विवाह-शादियों में अति व्यय करके जो धन का प्रदर्शन किया जा रहा है, सोचिये, इससे क्या आप एक नवीन प्रकार के जातिमद को नहीं बढ़ा रहे हैं ? आप सोचेंगे कि इस प्रदर्शन में कौन-सी हिंसा है ? किन्तु गहरा सोचेंगे तो आप जान पायेंगे कि इस प्रकार के प्रदर्शनों में तो हिंसा की जड़ हरी बनी रहती है। इस प्रदर्शन से पड़ोसी भाई के मन में हीन-भावना पैदा होती है

और वह विषमता का अनुभव करके अपने को आपसे अलग समझने लगता है। उसके मन में आपके प्रति ईर्ष्या और प्रतिहिंसा की भावना उमड़ती है। यदि ऐसा सिलसिला एक व्यक्ति से दूसरे तक और आगे बराबर चलता रहे तो क्या भेदभाव की दीवारें मजबूत नहीं बनेंगी? इस भेदभाव के दो परिणाम हो सकते हैं—या तो वह वर्ग, जो आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त है, हिंसा का तांडव-नृत्य करे और प्रतिशोध ले अथवा दबा हुआ रह कर नये-नये सामाजिक विकारों को जन्म दे तथा समता की स्थिति से दूर सरकता रहे। इस प्रकार हिंसा और अहिंसा को उनके सूक्ष्म रूपों में समझना तथा उन रूपों से भी बच कर चलना चाहिये। जातिमद की ही श्रेणी में बल (शारीरिक) मद, परिवार-मद, धन-मद, शस्त्र-मद आदि उन सभी मदों को लिया जा सकता है, जो आत्मा को प्रमाद की स्थिति में पटकते हैं।

प्रमाद के अन्य कारण

मद के सिवाय प्रमाद के अन्य कारण—विषय, कषाय, निद्रा और विकृति बताये गये हैं। किसी भी मद से उन्मत्त व्यक्ति काम योग में आसक्त बनता है अथवा हिंसा-प्रतिहिंसा में पड़ कर कषायों का बन्ध करता है। जहां दुर्भावना नहीं है, वहां प्रमाद का कारण है निद्रा। निद्रा शारीरिक रूप से बेभानी की हालत है और इसके किसी भी रूप को आलस्य कहा जाता है। जहां चारों कारण मिलते हैं तो वहां विकृति का पांचवां कारण तो बन ही जाता है। ये पांचों कारण या पांचों में से कोई कारण जहां पनपता है, वहां प्रमाद आता है और प्रमाद के योग से हिंसा का होना अवश्यंभावी हो जाता है।

हिंसक-अहिंसक की कसौटी

मैं कहता हूं कि जीवन में धर्म का क्षेत्र व्यापक होता है। यह धर्म-स्थान है—यहां सबको धर्म-ध्यान करने का अधिकार है। अब कोई हरिजन यहां आकर बैठ जाय और उस समय आपके मन मस्तिष्क में कोई घृणा, हीनता या तिरस्कार की भावना नहीं आवे तब समझना चाहिये कि आप अहिंसक हैं। अब आप ही सोचिये कि आप अपने आपको अहिंसक मानते हैं अथवा वास्तव में हिंसक हैं? भेदभाव की दृष्टि और विषमता का व्यवहार हिंसा के मूल हैं।

आपके समाज के धरातल पर कभी प्रभावना का प्रसंग आता है। हकीकत में प्रभावना समता की भावना दर्शाने वाली होनी चाहिये, किन्तु कोई प्रभावना बांटते-बांटते भेदभाव की स्थिति खड़ी कर दे कि वह पैसे वालों को तो आग्रह करके बांटता जाय और गरीब को देख कर उसे धक्का मार अलग

कर दे तो क्या यह हिंसा का प्रदर्शन नहीं होगा ? हां, प्रभावना बांटते समय कोई पैसे वाला निकल जाय तो कोई बात नहीं, किन्तु गरीब के प्रति आदर बता कर उसे प्रभावना आग्रहपूर्वक दी जाय तो ऐसे व्यवहार से समझना चाहिये कि जाति-मद हल्का हो रहा है एवं अहिंसा व समतामय व्यवहार को प्रमुखता दी जा रही है ।

हिंसा और अहिंसा की सीमाएं मन की भीतरी पर्तों में समाई हुई रहती हैं और वहीं से बाहर के कार्यों का क्रम चलता है । अतः हिंसक और अहिंसक की कसौटी के लिये भावनाओं की गहराई में उतर कर ही परख करनी होगी ।

विषमता हृदयहीन और समता सहृदय होती है

भेदभाव और हिंसा के धरातल पर जिसका स्वभाव ढलता है, वह विषमता की कटुता से भरा हुआ रहता है और इस कारण वह हृदयहीन भी हो जाता है । किन्तु समता की साधना जिसने की है, उसकी हार्दिकता सदा मानवता का सहारा बनती है ।

कल्पना करें कि आप सम्पन्न हैं और आपके सामने एक गरीब और दुःखी व्यक्ति आकर गिड़गिड़ाता है कि मुझे किसी भी प्रकार आश्रय दो और उस समय आप उसकी अपेक्षा कर दें या धुतकार दें तो क्या आप अपने आपको अहिंसक और समभावी मान सकते हैं ? समता नहीं तो सहृदयता कहां से आएगी ? भेदभाव, हिंसा और विषमता से मन के सभी कोनें जब काले पड़े हुए हों तो वहां समता का सत्कार कैसे होगा ?

शक्ति का सदुपयोग करें

आप उस गरीब और दुःखी व्यक्ति को मारते-पीटते नहीं किन्तु अपने पास शक्ति होते हुए भी उसे सहकार नहीं देते—यह अपनी शक्ति का सदुपयोग नहीं हुआ तथा असहकारी होने के कारण हिंसा के भी पात्र बने । बुद्धि, धन, बल या विद्या—किसी की भी शक्ति स्वयं के पास हो तो उसका कर्त्तव्य माना जाना चाहिये कि वह अपनी शक्ति का दूसरों के हित के लिये सदुपयोग करे। परोपकार में प्रमाद नहीं होना चाहिये और तब हिंसा और भेद-भाव भी नहीं होंगे ।

अहिंसा और हिंसा के भेद को समझ कर हिंसा के सूक्ष्म कारणों से भी दूर रहना चाहिये तथा समता के अमृत से न सिर्फ स्वयं के जीवन को बल्कि सारे समाज को सिंचित करना चाहिये ।

●●●

आत्मघात का सही अर्थ



चतुर्थ प्रवचन

दिनांक १८ सितम्बर १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

" सामान्ये करि दरसण दोहिलूं.............."

प्रार्थना में कवि भव्य आत्मा के मन की भावना को व्यक्त करते हैं कि सामान्य रूप से परमात्मा का दर्शन एक कठिन साधना है किन्तु यदि आत्मा अपनी कमर कस ले और पूरे पराक्रम से जुट जाय तो वह अपनी दर्शन या साक्षात्कार की अभिलाषा को पूर्ण कर सकती है । इसकी अगली सीढ़ी ही यह होगी कि वह आत्मा स्वयं परमात्म-स्वरूप को वरण करले । यही आत्मा से परमात्मा तक का सर्वोच्च विकास होता है ।

दर्शन के बीच की बाधाएं

कवि का संकेत है कि दर्शन तो मैं शीघ्र कर सकता हूं किन्तु उसके बीच में बहुत-सी बाधाएं खड़ी हुई हैं । ये बाधाएं भी साधारण नहीं हैं । इन बाधाओं को बड़े-बड़े घनघाती डूंगरों (पहाड़ों) की उपमा दी गई है । ये बाधाएं ऐसे पर्वतों के तुल्य हैं जो बीहड़ तो हैं ही, किन्तु मारक भी हैं—घातक रूप हैं । ऐसे घातक कि जरा से चूके तो आत्मा की घात ही कर डालें ।

ऐसे डूंगरों की उपमा कर्मों से दी गई है । आत्मा अपने शुभ या अशुभ संकल्पों, वचनों या कृत्यों से उस रूप में उनका जो फलाफल अपने साथ संलग्न कर लेती है, उसके भुगते विना छुटकारा नहीं मिलता । वैसा फलाफल जो दिलाते हैं, उन्हें कर्म कहा जाता है । ये कर्म जब तक आत्मा सर्वोच्च विकास बिन्दु तक नहीं पहुंच जाती, उसके साथ संलग्न होते रहते हैं तथा फल देकर छूटते रहते हैं । कार्माण वर्गणा के ये कर्म सूक्ष्म पुद्‌गलों के रूप में होते हैं जो आत्म-प्रदेशों के साथ तब तक संलग्न रहते हैं, जब तक कि उनका सम्पूर्णतः क्षय नहीं कर दिया जाता ।

जैसे सूर्य चमकता है और उसका तेज प्रकाश चारों ओर फैला रहता है किन्तु इस बीच वर्षा की घनघोर घटाएं छा जाय तो वे सूर्य को इस तरह ढक लेती हैं कि जैसे सूर्य का अस्तित्व तक लुप्त-सा हो जाता है । सूर्य के होते हुए भी अन्धकार फैल जाता है ।

घनघाती कर्मों की घनघोर घटाएं

उसी प्रकार सूर्य रूप तो आत्मा को मान लीजिये जो अपने शुद्ध रूप

में अनन्त तेज एवं शक्ति की धारिणी होती है, लेकिन घनघाती कर्मों की घनघोर घटाओं से ढक कर निस्तेज रूप में दिखाई देती है । ये कर्म आत्मा के प्रकाश को दबाये रखते हैं और तब तक उसे दबाये रखते हैं, जब तक शुभ कर्मों के उदय से उसमें जागृति का श्रीगणेश न हो । एक बार आत्मा मिथ्या से सम्यक् की ओर बढ़ चले तथा बाद में अपने श्रेष्ठ और सच्चे ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की शक्ति से गुणों के उच्चतर स्थानों पर बढ़ती रहे तो नइ घटाओं के अन्धकार को चीरा जा सकता है और एक दिन सारी घनघोर घटाओं को हटा कर आत्म–सूर्य का सम्पूर्ण तेज अपनी पूर्णता के साथ प्रकाशित किया जा सकता है ।

जब आत्म–सूर्य चमकता है तभी तो परमात्मा के दर्शन होते हैं या कि उनका साक्षात्कार होना माना जाता है । तो ये कर्म घनघाती इसी कारण कहलाते हैं कि ये आत्मा की याने आत्मिक गुणों की घात करके उसे निस्तेज बनाने वाले हैं । ये डूंगरों के समान प्रकाश के बीच का आवरण बन कर आत्मा को अंधेरी गलियों में भटका देते हैं और इस अंधेरे को जब तक नष्ट नहीं किया जाता है, तब तक प्रकाश नहीं, दर्शन नहीं और परमात्म–स्वरूप की प्राप्ति भी नहीं ।

आत्मा की घात कैसी ?

साधारण रूप से आत्मघात अपने शरीर की हत्या (स्वयं ही) कर देने को कहते हैं क्योंकि आत्मा की हत्या तो संभव होती नहीं है । शरीर की हत्या का अर्थ भी एक समग्र जीवन की हत्या होती है और इसे महापातक कहा गया है, किन्तु आत्मघात का वास्तविक अर्थ इससे भी अधिक गहरा है ।

इसे एक प्राकृतिक प्रक्रिया माना है कि आत्मा अपने स्वरूप को निखारती हुई पूर्ण परमात्म–स्वरूप को प्राप्त करले, किन्तु इस प्रक्रिया में अपने ही किये हुए कर्म जब भयंकर बाधाओं का रूप धर कर बीच में आ जाते हैं तो ये एक बार आत्मा की घात करते हैं याने कि आत्मा में परमात्म–दर्शन की जो शक्ति है, उसका ह्रास करते हैं । इससे आत्मा अपना भान भूलने लगती है और धीरे–धीरे इतनी बेभान बन जाती है कि वह अपने विकास को ही नहीं, अपने स्वरूप और विवेक को भी भूल जाती है । आत्मा की जो ऐसी सुषुप्त दशा बन जाती है, उसे ही सच्चे अर्थ में आत्मघात कहा जाना चाहिये । शरीरघात तो एक जीवन का विनाश करता है, किन्तु आत्मघात एक साथ कई जीवनों का विनाश करके आत्मा को जन्म–मरण के चक्र में इस तरह उलझा देता है कि बिना विशिष्ट श्रम–साधना के उसका उससे बाहर निकल आना

दुःसाध्य वन जाता है ।

आत्मघात को जव उसके इस सही अर्थ में लिया जाय तभी कर्मों की घातकता का सही रूप से मूल्यांकन भी किया जा सकेगा ।

कर्मों की आत्म-घातक शक्ति

यों तो कर्म आठ कहे गये हैं किन्तु इन में शक्तिशाली चार कर्मों को घनघाती कर्म की संज्ञा दी गई है । इनमें हैं—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म । ये सुचिक्कण कर्म होते हैं और एक बार आत्म-प्रदेशों से संलग्न होकर अति-कठिनता अर्थात् गहरी साधना के वाद ही छूटते हैं । इन कर्मों की आत्म-घातक शक्ति इतनी प्रवल होती है कि आत्म-विस्मृत होकर आत्मा अपने पतन की गहराई में डूवती ही चली जाती है ।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा की उस अनन्त ज्ञान शक्ति को आच्छादित कर देता है, जिसके वल से वह परमात्म-स्वरूप की उपलब्धि तक सफलता से गति कर सकती है। जैसे हाथ की रेखाएं मनुष्य सरलता से अपनी आँखों से देख सकता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय हो जाने पर सारे विश्व का प्रत्यक्ष अवलोकन सहज वन जाता है । आवरण हट जाने पर केवल ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है, जिसकी विद्यमानता में कुछ भी अनदेखा नहीं वच सकता है ।

ज्ञानावरणीय कर्म के टूटने से वस्तु-स्वरूप का विशेष वोध होता है लेकिन वस्तु के सामान्य स्वरूप का वोध दर्शनावरणीय कर्म के टूटने पर होता है । एक को द्वारपाल कहा है तो दूसरे को आँखों की पट्टी । पहला आत्मा को परमात्म-दर्शन के प्रासाद-द्वार के वाहर ही रोक देता है तो दूसरा आंखों पर वन्धी पट्टी की दशा में सामान्य दृष्टि को भी वांध लेता है ।

फिर अन्तराय कर्म भी ऐसा घातक है, जो आत्मा को अपना विकास साधने के साधनों में वरावर रोड़े अटकाता रहता है, किन्तु इन तीनों घनघाती कर्मों से वड़ा होता है मोहनीय कर्म, जिसे कर्म-सेना का सेनापति माना गया है । इस मोह कर्म की आत्म-घातक शक्ति सव से ज्यादा वढ़-चढ़ कर होती है ।

कर्मों का सेनापति मोह

मोह-कर्म के स्वभाव की तुलना मादक मदिरा के साथ की जाती है । वह आत्मा को अपने निजत्व से हटा कर पर-पदार्थों के साथ मोहित कर देता है । इसे कर्मों का सेनापति कह लीजिये अथवा कर्म वृक्ष की जड़ ।

अगर सेनापति परास्त कर दिया जाय तो फिर सारी सेना को परास्त करना आसान हो जाता है अथवा वृक्ष की जड़ें काट दी जाय तो फिर उस वृक्ष को नष्ट करना सरल बन जाता है । यदि मोह को जीत लिया तो मान लें कि सारे विकारों को जीत लिया ।

वर्तमान पर्याय की दृष्टि से देखें तो मानव जीवन में भी मोह ही मन और मस्तिष्क पर प्रमुखता से छाया रहता है तथा उसी की लिप्तता चिकनी होती है, जब तक मोह का शासन आत्मा पर होता है, वह आत्मा आत्म-घात की स्थिति में जड़वत्, निस्तेज बनी रहती है । मोह की पराधीनता आत्मा का महा पतन होता है ।

यह मोह क्या है ? मोह याने ममत्त्व अर्थात् जो मेरा नहीं है, उसे मैं मेरा करके समझूं और जो मेरा है, उसे भूल जाऊं— उसे ममत्त्व या मोह कहते हैं । आत्मिक दृष्टि से सोचें तो अनन्त ज्ञान मेरा है, दर्शन मेरा है और आचरण की निर्मलता मेरी है किन्तु इन्हें तो भूल जाऊ और जो मेरा नहीं है याने सम्पत्ति मेरी नहीं है, सत्ता और पुद्‌गलों का सुख मेरा नहीं है, परिवार मेरा नहीं है और स्वयं शरीर भी मेरा नहीं है, फिर भी इन पर-पदार्थों में ममत्व डाल कर कर्मों के जाल में उलझता रहूं—यह मोह है ।

इसे आध्यात्मिक हिंसा भी कह सकते हैं कि आत्मा इस तरह स्वयं अपनी ही—अपने ही विकासकारी गुणों की घात करती रहती है । मोह-ग्रस्त आत्मा स्वय की रक्षा में भी असमर्थ बन जाती है और रक्षा की तो बात ही क्यों करें, वह मोहावेश में तो अपनी घात करने लगती है ।

मोहाविष्टता आध्यात्मिक हिंसा है

मोह कर्म की दासता में बंध जाना आत्मा का अति-पतन है और अपेक्षित दृष्टि से यह आत्मा की आध्यात्मिक हिंसा है । मानव इस हिंसा को समझ नहीं पाता है और ऊपर से दूसरे कार्यों को करते हुए वह भले ही अपने आपको अहिंसा का अनुपालक समझ ले, लेकिन अपनी स्वयं की हिंसा को वह रोक नहीं सकता है । अगर आप वास्तविक दृष्टि से चिन्तन करेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि शरीर की ऊपर से रक्षा हो रही है किन्तु अन्दर से आत्मा की हिंसा हो रही है । इसी तरह जैसे बाहर रक्षक तैनात होकर चारों ओर खड़े हों, किन्तु किले के भीतर कोई इस तरह बन्द हो कि उसे अच्छा भोजन-वस्त्र सब मिलें लेकिन आजादी की हवा तक न लगे तो बताइये कि वह उसकी रक्षा है या हिंसा ?

मोह के घोरतम अंधकार में सूर्य का प्रकाश तनिक भी नहीं दिखाई

देता और आत्मा का अंधकार-ग्रस्त होना ही आत्मघात है। मोहाविष्ट आत्मा उन्मत्त की तरह बन जाती है जिसे अपनेपन के भान का कुछ भी ध्यान नहीं रहता। वह तो संसार की जड़ता में ऐसी रम जाती है कि धन-वैभव के लिये हाय-हाय, स्त्री-पुत्र के लिये आलाप-विलाप तो अपने शरीर के लिये सारे सुख-साधनों का संचय, और यह सब मिले ही नहीं या मिल कर फिर खो जाय तो उस खेद-दशा का कहना ही क्या ? आत्म-रत्न को खो देने की कोई चेतना नहीं, लेकिन कांच के टुकड़ों के लिये मोहाविष्ट आत्मा जैसे मर-मर जाती है।

आत्मघात की गम्भीर दशा

हिंसा का मूल प्रमाद में है और प्रमाद का मूल मोहदशा में होता है, जो सभी प्रकार के विकारों को आत्मा के साथ जोड़ती है। यह संलग्नता जितनी घनी होती जाती है, उतने ही अंशों में आत्म-घात की दशा भी गंभीरता में बदलती जाती है। मोह के आधीन बनी आत्मा को अपने आप पर भी दया नहीं आती है। स्वयं के स्वरूप को भी वह भूल जाती है तो स्वयं की शक्ति को नष्ट कर देने के लिये भी वह तैयार हो जाती है। यह कैसी विडम्बना है कि वह प्राणियों के प्राण-व्यतिरोपण के साथ अपने ही प्राणों का भी व्यतिरोपण करने लग जाती है।

मोह का प्रबल शत्रु ऊपर से नहीं दीखता, किन्तु ज्ञान और दर्शन के आवरण यदि काफ़ी हटाये जा सकें तो कहीं इसकी घातकता का ज्ञान होता है वरना ज्ञान के नेत्र इतने विकसित हो जांय कि जिसमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि ज्ञान तक प्राप्त हो जाय, फिर भी मोह के उदय का ऐसा अन्धड़ आ सकता है जो इन विकसित नेत्रों को भी पुनः अन्धता में पटक दे।

जहां तक ज्ञान का ही प्रश्न है, वह देवताओं की योनि में भरपूर होता है, किन्तु मोह दशा में बंधे हुए होने के कारण वे अपने निजत्व का भान भूले रहते हैं। बड़े-बड़े ऋषि और साधक भी मोह के थपेड़ों में कभी-कभी ऐसे पतित होते हैं कि जिनके पतन का कोई ओर-छोर नहीं रहता। विषय और कषाय, मोह के प्रधान सहायक होते हैं तथा आत्मा जब इनके अनुशासन में रहती है, तब वह अपने चेतन धर्म से हट कर जड़-धर्म की अनुगामिनी बनी रहती है और यही आत्म-घात की गंभीर दशा होती है।

जितना मोह, उतना आत्म-द्रोह

यह समझ लें कि समाज-द्रोही और राष्ट्र-द्रोही तथा यहां तक कि

मानवता–द्रोही से भी आत्म–द्रोही को अधिक नीच की संज्ञा देनी होगी, क्योंकि इसका कारण है कि जो आत्म–द्रोही होगा, वह कभी भी समाज, राष्ट्र या मानवता का प्रेमी अथवा भक्त नहीं बन सकता है और जो मोह की मदिरा पिये हुए बेभान होकर आत्म–घात करता जा रहा है, वही आत्म–द्रोही कहलाता है। जो अपने आपसे भी नहीं चूकता, वह भला किससे चूकेगा ?

मोह और मदिरा की परिणति भी एक सी ही होती है। मोहदशा का ज्यों ही आरंभ हुआ कि साधारण मात्रा निरर्थक होने लगती है और दिन प्रतिदिन मात्रा बढ़ती ही जाती है तभी मजा महसूस होता है। मोहनीय कर्म स्वभाव से ही चिकना होता है और फिर जब उसका घनत्त्व बे–हिसाब बढ़ जाता है तब वह अत्यन्त ही दुरूह बन जाता है। फिर उसे काटना चाह कर भी काटने में अत्यधिक शक्ति–नियोजन के बिना उसे काटना संभव नहीं बनता है। यह मोह–कर्म एक तरह से हिमालय की एवरेस्ट चोटी की तरह हो जाता है कि जिस आवरण को पार कर पाना एक भगीरथ–कार्य बन जाता है।

घनघाती कर्मों के चक्कर में आत्म–घात का जो एक बार क्रम शुरू हो जाता है तो उस संज्ञाहीन अवस्था में सारी मर्यादाएं टूट जाती हैं और पतन की कोई सीमाएं नहीं रहतीं।

डूंगर हटाओ, आत्मा को उठाओ

घनघाती कर्मों के डूंगर जब हटेंगे, तभी आत्मविकास का मार्ग प्रशस्त बन सकेगा। आवरण है तब तक दर्शन नहीं होंगे—प्रकाश नहीं मिलेगा और आत्मा का उत्थान नहीं होगा। आवरण है, तब तक पतन है। इस पतन से उबरने के लिये नौ तत्त्वों का ज्ञान करें, बंध को समझें तथा निर्जरा की तरफ मुड़ें तभी मोक्ष की मंजिल की ओर प्रगति हो सकेगी।

"डूंगर हटाओ और आत्मा को उठाओ" का समाज में एक सामूहिक अभियान सा छिड़ना चाहिये, जो सारी विषमताओं पर प्रहार करता हुआ समतामय जीवन की दिशा में सबको आगे बढ़ाने के स्वस्थ एवं आत्म–पोषक वातावरण की रचना कर सके।

आदर्श और सहयोग का आश्रय



पंचम प्रवचन

दिनांक १९ सितम्बर, १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

"बाधा पार करो, मारग संचरूं, सेंगू कोई न साथ..............."

जब तक कोई आदर्श समक्ष न हो, मार्ग पर गति नहीं होती तथा सहयोगी न हो तब तक बाधाओं को पार करने का साहस नहीं जुटता। यही कारण है कि इस दृष्टि से परमात्मा की प्रार्थना का आश्रय लिया जाता है। प्रार्थना करने का तात्पर्य्य जीवन-विकास के मार्ग पर परमात्मा के आदर्श को समक्ष लाना एवं उनके ध्यान से बाधाओं को पार करना माना गया है। मानव-जीवन का लक्ष्य है कि इस जीवन को पूर्ण बनाना—अपूर्णता की सारी कमियों को दूर करके उसे पवित्रता की चोटी पर पहुँचा देना। पूर्ण पवित्रता तथा पूर्ण शक्ति की प्राप्ति हेतु सामान्यतया पुष्ट सहयोग की अपेक्षा रहती है। कवि का संकेत यही है कि मैं दर्शन के लिये आगे बढ़ता हूं तो घनघाती डूंगरों की बाधाएं आती हैं और इन बाधाओं में कर्मठ साहस के साथ मैं आगे बढ़ सकूं, इसके लिये मुझे किसी साथ की जरूरत है। साथ का अर्थ यहां पर सहयोगी से लिया गया है। योग्य पुरुष का जब तक सहकार नहीं मिले तो सारे उत्साह के बावजूद भी यह आत्मा कठिनाइयों की अटवियों में भटक सकती है और पूर्णता प्राप्त करने से वंचित रह सकती है। बाहर से दिखाई देने वाली अटवियों में तो फिर भी कंटीले और पथरीले मार्ग को पार किया जा सकता है, किन्तु आत्मा के आन्तरिक विकास मार्ग की बाधाओं को समझना, उनसे प्रतिक्षण सतर्क रहना और उनसे संघर्ष करते हुए अग्रसर बने रहना स्वयं में एक दुष्कर कार्य है।

अपूर्णता से पूर्णता की ओर

प्रत्येक आत्मा की अपने-अपने वर्तमान विकास की दृष्टि से शक्ति के सम्बन्ध में अलग-अलग स्थितियां होती हैं। यद्यपि यह सत्य है कि प्रत्येक संसारी आत्मा का जीवन न्यूनाधिक रूप से अपूर्ण होता है, फिर भी इस अपूर्णता के घनत्व में अंतर विद्यमान रहता है। कई आत्माएं अपने पतन की गहराई में डूबी रहती है तो कई निरन्तर ऊपर उठते रहने के अपने सत्प्रयास में उतनी-उतनी अपूर्णता को काटती हुई ऊपर चढ़ती रहती हैं। मानव समाज में भी देखा जाय तो शक्ति का अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। किन्हीं की धार्मिक

शक्ति अति प्रबुद्ध अवस्था में दिखाई देती है और वह इतनी सुदृढ़ हो जाती है कि उनका जीवन अपूर्णता से बहुत दूर और पूर्णता के अधिक समीप आ जाता है । ऐसे प्रबुद्ध पुरुषों के लिये शायद सहकार की आवश्यकता न पड़े और वे स्वयं ही बाधाओं की अटवियां पार करके पूर्णता की ओर बढ़ चलें।

किन्तु साधारण स्तर पर विकासोन्मुख आत्मा के लिये जीवन में कुशल सहयोगी की आवश्यकता होती है, जिनके साथ से वह कहीं भी हतोत्साहित नहीं होती है और अपनी अपूर्णता को सफलतापूर्वक समाप्त कर सकती है। अपूर्णता को ही अधिकांशतः दुर्बलताएं घेरती रहती हैं और यदि उन पर अंकुश का बल बराबर न लगा रहे तो वे अपूर्णता को और अधिक बढ़ा देती हैं।

जीवन की दो धाराएं

मैं आपके सामने इस परिप्रेक्ष्य में दो तरह के जीवन की कुछ बात बता रहा हूं। पूर्णता के समीप पहुंचने वाले पुरुष अपने जीवन में एकाकी ही चल पड़ें और अपनी गति में किसी के सहयोग की अपेक्षा न रखें—तब भी उनके लिये यह संभव होता है कि वे अपने जीवन की समस्त बाधाओं को जीतते हुए उसे प्रकाशस्तंभ के समान बना लेते हैं। प्रकाशस्तंभ स्वयं तो प्रकाशित होता ही है किन्तु औरों के लिये भी प्रकाश का पुंज बिखेर देता है। ऐसा ही महापुरुषों का जीवन होता है जो अपने आदर्श से सारे संसार का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ऐसा जीवन एक तरह से अपरिवर्तनीय आयुष्य वाला होता है, जिसे अटूट शक्तियां प्राप्त होती हैं। महापुरुष किसी उपक्रम से घबराते नहीं और किसी भी उत्सर्ग से पीछे हटते नहीं। उनका आत्मिक साहस वज्र बन कर घनघोर बाधाओं को तोड़ता रहता है और प्रकाश रूप बन कर युग-प्रवर्तक बन जाता है।

परन्तु हर सामान्य जीवन में ऐसा कठोर साहस तत्काल उत्पन्न नहीं हो सकता है। उसके लिये प्रेरणा का स्रोत चाहिये, आदर्श की आभा चाहिये और चाहिये किसी योग्य पुरुष का सहयोगी हाथ, जिसे थाम कर वह साहस जुटा सके अपने कर्म-पथ को निर्धारित कर सके और अपनी अपूर्णता से लड़ सके। उसका परिवर्तनीय आयुष्य होता है जो कहीं भी टूट जाय और उसके काम को अधूरा ही छोड़ दे। यही कारण है कि साधारण स्तर पर यदि विकास के आधार को मजबूत बनाना है तो योग्य सहयोगी को अवश्य ही प्राप्त करना होगा।

सहयोगी की गवेषणा करें

शास्त्रों में निर्देश आया है कि परमात्मा के साक्षात् दर्शन करने के

लिये योग्य सहयोगी की गवेषणा करें । वह सहयोगी कैसा हो— इसका भी वहां संकेत दिया गया है । बताया गया है कि निपुण एवं नियंत्रित बुद्धि वाला सहयोगी होना चाहिये । बुद्धि जब निपुण होती हैं तो वह गहरी और सुबुद्धि होती है और वैसी बुद्धि ही धैर्य के साथ प्रगति की ऊंचाई प्राप्त करने वाली और वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानने वाली होती है । बुद्धि-निपुणता के साथ नियंत्रित नहीं हुई तो वह अहं में मतवाली बन कर दुस्साहस कर सकती है और पथ विभ्रम बन सकती है, लेकिन नियंत्रित बुद्धि सत्साहस एवं धैर्य के साथ स्वयं भी सुस्थिर रहती है और साथी को भी सुस्थिर बनाये रखती है । अत: निपुण एवं नियंत्रित बुद्धिशाली सहयोगी को जो आत्मा अपने सामान्य स्तर पर प्राप्त करले और उसका सहयोग पा ले—उसके लिये बाधाः भरा मार्ग भी सरल बन जाता है ।

ऐसे योग्य सहयोगी की गवेषणा, किन्तु आसान काम नहीं है । योग्य सहयोगी के चुनाव में भी योग्य परख-बुद्धि की आवश्यकता होगी, बल्कि उसका मानदंड परमात्मा के आदर्श की तुलना में देखना और समझना होगा ।

आदर्श के प्रकाश में सहयोगी

परमात्म-स्वरूप को भलीभांति हृदयंगम करना पहला काम है और उसके बाद उस स्वरूप को जब अपने जीवन का आदर्श बनाया जायगा, तभी उस आदर्श को प्राप्त करवा सके—ऐसे योग्य सहयोगी का चित्र स्पष्ट करना होगा । ऐसा योग्य सहयोगी गुरु ही हो सकता है लेकिन जब तक आदर्श स्पष्ट नहीं होगा और श्रेष्ठ विवेक जागृत नहीं होगा, तब तक गुरु की अवधारणा भ्रामक भी हो सकती है ।

आप अपना गन्तव्य स्थान निर्धारित करलें और उसके बाद आवश्यक विवेक का अभाव हो तथा हर किसी से उस गन्तव्य स्थान पर पहुंचने का रास्ता पूछते रहें व हर किसी के बताये रास्ते पर चलते रहें तो क्या आप उस गन्तव्य स्थान पर पहुँचने की आशा कर सकते है ? यद्यपि गन्तव्य स्थान सही हो, फिर भी योग्य सहयोगी के अभाव में आपकी गति व्यर्थ हो सकती है । उसी प्रकार गोविन्द तक पहुंचने में गुरु के स्थान को पहला क्रम देना ही होगा ।

जब आदर्श ऊंचा हो और सहयोगी सच्चा तो वैसी स्थिति में अपूर्ण जीवन के पूर्णता की ओर सफलता से अग्रसर होने में कोई आशंका नहीं रह जायगी । तब आदर्श और सहयोग अविकसित जीवन के लिये भी विकास के उन्नायक-स्तंभ अवश्य बन जावेंगे । यही कारण है कि योग्य सहयोगी की

गवेषणा को सर्वाधिक महत्व दिया गया है तथा उसके लिये भी निपुण एवं नियंत्रित बुद्धि का होना विशिष्ट गुण माना गया है ।

आन्तरिक शत्रुओं से संघर्ष में

आध्यात्मिक रणभूमि में जो साधक उतर चुका हो और जिसे अपने सामने सेनापति मोहनीय कर्म की अधीनता में खड़ी कर्म-समूह की सेना दिखाई दे रही हो, वैसे आदर्शोन्मुख साधक को जब योग्य सहयोगी (गुरु) का सबल सहयोग मिल जाय तो निश्चय ही वह उनसे कठिन संघर्ष छेड़ कर अपने आदर्श की ओर प्रगति कर सकता है । अपने ही शुभाशुभ योगों में से उपार्जित कर्मों का क्षय करना किसी भी रणभूमि में बड़े-बड़े योद्धाओं से अकेले लड़ने से कम शौर्य्यपूर्ण नहीं होता । अपने विचारों में, अपनी वाणी में और अपनी साधना में प्रतिपल ये योद्धा हर संभव विघ्न डालने को सामने आते हैं और उसी समय उनके घनत्व को समझ कर अपने सुदृढ़ संयम से उन पर प्रहार करना और उन्हें परास्त करते जाना ही आध्यात्मिक रणभूमि की सफलता कही जाती है ।

जब ये आन्तरिक शत्रु साधक की आध्यात्मिक शक्ति को दबोचने के लिये आगे बढ़ते हैं, उस वक्त निपुण अर्थ-बुद्धि वाला सहयोगी अगर साधक का आत्मिक रथ चला रहा हो तो फिर साधक पैने बाणों से इन शत्रुओं को प्रबल वेग से छेद सकेगा ।

यह संघर्ष है जड़ और चेतन का

जब तक आपकी दृष्टि अंतर्मुखी नहीं बने, तब तक भले ही यह संघर्ष आपको छोटा-सा दिखाई दे, किन्तु इस विचार में एक प्रकार से शास्त्रों का समूचा रूपक समाया हुआ है । योग्य सहयोग की अपेक्षा उस आध्यात्मिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि इस विराट् विश्व में जीवन-संचालन करते हुए पग-पग रहती है ।

इस लोक के अन्दर छः प्रमुख तत्त्व माने गये हैं, जिन्हें एक दृष्टि से लोक-संचालक कहा जा सकता है । ये हैं पांच तो अस्तिकाय याने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय तथा कालास्तिकाय एवं छठा तत्त्व है जीव-चैतन्य । पहले पांच अजीव हैं । अजीव वह जो चेतनारहित होकर सुख दुःख को वेदे नहीं, पर्याप्ति, प्राण, योग, उपयोग तथा कर्म-रहित और जड़ लक्षण वाला हो । वहां जीव का लक्षण चेतना व उपयोग युक्त, सुख दुःख का वेदक, पर्याप्ति, प्राण का धर्ता, आठ कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता तथा शाश्वत होता है । जीव का कभी विनाश नहीं होता तथा ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के भावों में वह विगत काल में जीता रहा, वर्तमान में जी रहा है

और आगामी काल में सदैव जीता रहेगा ।

पहले के पांच तत्त्वों के आधार पर सारा संसार बना है और इनके साथ सम्बन्धित होकर यह छठा तत्त्व उसे चला रहा है । इस तरह यह छः खिलाड़ियों का लोक है । पांचों जड़ तत्त्व गति, स्थिति, अवकाश, रचना और समय के प्रतीक हैं तो छठा चेतन तत्त्व संचालक है । यदि निरपेक्ष भाव से सचालन हो तो दोनों तत्त्वों में सामंजस्य बैठ कर संसार भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति कर सकता है, किन्तु दुर्बलता चेतना शक्ति की यही होती है कि जड़ में उसकी अपेक्षा और आसक्ति पैदा हो जाती है—वह उनमें व्यामोहित हो जाती है, तब वैसा मोह अन्य सारे कर्मों को न्यौता देता है और चेतन को जड़लिप्त बना देता है। इसे ही जीवन का पतन कहते हैं कि जो संसारी जीव को संसार में उलझा देता है, उसे सिद्ध नहीं बनने देता ।

सिद्ध बनने के लिये इसी पतनावस्था से चेतन को संघर्ष करना पड़ता है—जड़ मोह से संवद्ध कर्मों से लड़ना पड़ता है । इसी कारण आध्यात्मिक विकास जड़-चेतन के संघर्ष से ही आरम्भ होता है ।

लोक-संचालन की गतिविधि

जैन-दर्शन ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना की मान्यता को इसी आधार पर नकारता है कि आत्मा ही परमात्मा बनती है—अलग कोई शाश्वत ईश्वर नहीं होता और परमात्मा बनने के बाद वह संसार से पूर्णतया असम्बद्ध हो जाती है । ससार का संचालन इन छहों तत्त्वों द्वारा होता है ।

धर्मास्तिकाय तत्त्व की खोज अभी तक पूरी विज्ञान की भूमि पर नहीं आई है । गति के माध्यम से इसकी खोज हो रही है और 'ईथर' तत्त्व इसी से सम्बन्धित माना जा सकता है । किन्तु पूर्ण प्रभु ने इन तत्त्वों का जो सर्वांग स्वरूप देखा है, वह शास्त्रों में गूंथा गया और उसी पर गुरु-परम्परा में चिन्तन-मनन होता आया है । अधर्मास्तिकाय स्थितिसूचक है जो आकर्षण तत्त्वों से सम्बन्धित है और आकाशास्तिकाय के आधार पर तो सारा अवकाश-विज्ञान टिका है और उसमें गहरी खोजें चल रही हैं । लोक सिर्फ यह पृथ्वी ही नहीं बल्कि असंख्य पृथ्वियां हैं जो अवकाश में स्थित हैं । पुद्गलास्तिकाय अपने स्कंध, देश और प्रदेश से सारी दृष्टिगत रचना की मूल है । जो भी इन्द्रियगम्य विषय हैं, वे सब पुद्गलों द्वारा रचित हैं । काल इन सबमें परिवर्तन का प्रतीक है जो पुद्गलों को एक से दूसरी अवस्था में बदलता रहता है। इस सारी लोक-संचालन की गतिविधि में शरीर रूप पुद्गलों से सम्बद्ध होकर चेतन सक्रिय बनता है । जो पांचों जड़ तत्त्वों के मेल से संसार चल रहा है, उसे

प्रकृति का रूप दिया जाता है तथा उसमें जैविक–क्रियाएं सामंजस्य बिठाती और संघर्ष करती हुई नई रचना को जन्म देती हैं।

इन्हीं ६ तत्त्वों के अन्तर पेटे समग्र विश्व का ज्ञान–विज्ञान और कला कौशल समाविष्ट है। इनसे परे कोई तत्त्व नहीं है। ऐसे तत्त्वों के माध्यम से संसार का दृश्य उपस्थित हो रहा है, जिसमें चैतन्य स्वरूप यह आत्मा भी अपना खेल खेल रही हैं। आत्मा का खेल अधिकतर पुद्गल के साथ चलता है, जो जड़ है। जड़ स्व-पर को नहीं समझता और चेतन स्व–पर को समझता है—इस तरह दोनों विपरीत तत्त्व हैं।

चैतन्य देव के दर्शन

इस सृष्टि में इस प्रकार सर्वाधिक विशिष्ट तत्त्व चैतन्य है। कारण कि इसी तत्त्व का चमत्कार चारों ओर दिखाई देगा। ये विभिन्न आकृतियां इसी चैतन्य देव की विभिन्न कृतियां हैं। चैतन्य की मूल रूप में शक्ति अनन्त, वुद्धि अनन्त और गति अनन्त, किन्तु यहीं बाधा वड़ी है कि वह जड़ में अपने को रचा–पचा कर इतना जड़-ग्रस्त वन जाता है कि वह श्रीहीन हो जाता है। फिर सच्चे चैतन्य देव के दर्शन करने के लिये इस बाधारूप दीवार या डूंगर को काटना पड़ता है।

ये बाधा रूप दीवार या डूंगर किसी और ने नहीं, स्वयं चैतन्य ने ही अपनी मूर्छा के कारण अपने ही विरुद्ध खड़े किये हैं। यही इस चैतन्य की विकृति है—उसकी गफलत है। जड़ रूप पर–पदार्थो को उसने अपना समझा, उनमें आसक्ति डाली, वे आये और उससे चिपट गये। चैतन्य की मूर्छा वढ़ती गई और उसका मूल स्वरूप ढकता गया, वह प्रकाश से अंधकार की ओर वढ़ता गया। वह अपनी संज्ञा को भी भूलता गया और उसने पुद्गल–मोह को ही जीवन का सार समझ लिया। यह चैतन्य की अज्ञान–दशा है और इसी अज्ञान दशा से चारों ओर जड़ का साम्राज्य दिखाई देता है। चेतन जड़ के आवरण में मूर्छाग्रस्त होकर तेजहीन वन गया है। इसी कारण अध्यात्म शास्त्र कहते हैं कि इस आवरण को हटा कर चैतन्य देव के दर्शन करना ही जीवन का प्रधान साध्य होना चाहिये।

विकारों की भयंकर अटवी में फंसी आत्मा

संसारी आत्माओं के चैतन्य रूप की जड़–ग्रस्त मूर्छा से जो विकट स्थिति वनी हुई रहती है, उससे उवरने के लिये इसी कारण निपुण सहयोगी के सहयोग की सामान्यतया अनिवार्यता महसूस की जाती है। ज्यों–ज्यों किसी

आत्मा में ज्ञानदशा का विकास होता है, त्यों-त्यों वह अनुभव करती है कि विकारों की भयंकर अटवी में वह फंसी हुई है और जब तक वह उसमें से सकुशल नहीं निकले तब तक उसकी उन्नति का द्वार नहीं खुल सकेगा। ऐसी संकटापन्न परिस्थिति में यदि योग्य सहयोगी उस आत्मा को मिल जाय तो उसका साहस द्विगुणित हो जायगा तथा उसका उस अटवी में से निकास भी आसान बन जायगा।

सांसारिक व्यवहार में भी आप जानते हैं कि साधारण रूप से सर्वत्र सहयोग की जरूरत महसूस की जाती है। परिवार के घटक को ही देखिये कि वह एक तरह से सहयोग का ही रूपक होता है। इसी तरह सामाजिक स्तर पर सहयोग के आधार पर ही संसार के सारे कार्य चलते हैं। सांसारिक जीवन में भी जहां सहयोग टूटता है, वहां ईर्ष्या-द्वेष में बढ़ोतरी दिखाई देती है। उसी तरह आत्मोन्नति के मार्ग में सहयोग नहीं मिले तो आत्मा सारी सदिच्छा के बावजूद भी विषय और कषायजन्य विकारों में फंस जाती है।

विवेक और चेतना का मार्ग

परमात्मा का आदर्श और सद्गुरु का सहयोग जिस संसारी आत्मा को समुचित रूप में प्राप्त हो जाता है, निश्चय मानिये कि वह आत्मा विवेक और चेतना के मार्ग पर स्थिर गति से चल पड़ती है। वह जागृत बन कर अपने आपको विकारों की जकड़ से छुड़ाती है तथा कर्म समूह को नष्ट करने लगती है। आन्तरिक शत्रुओं से सफल संघर्ष करती हुई ऐसी आत्मा अपनी सम्पूर्ण चेतना के समग्र विकास की दिशा में गतिशील बन जाती है।

चाहे संसारिक जीवन हो अथवा आध्यात्मिक जीवन—सब जगह यदि निपुण बुद्धिवाला सहयोगी मिल जाय तो मनुष्य विवेक और चेतना के मार्ग पर चल कर सर्वांगीण विकास को सम्पादित कर सकता है। जिस समाज में निपुण बुद्धिवालों का सहयोग मिल जाता है, वह समाज राष्ट्र को प्रभावित करता है और ऐसे राष्ट्र मिल कर विश्व के वातावरण को सुधार सकते हैं।

ज्ञानीजनों ने इसीलिये कहा है कि यदि भगवान् के दर्शन करना चाहते हो तो पहले योग्य सहयोगी की गवेषणा करो क्योंकि उन्हीं के सहयोग से तुम्हें परमात्मा के आदर्श का भी सम्यक् ज्ञान हो सकेगा। गुरु बिना गोविन्द का पता ही कैसे लगेगा? और वह गोविन्द और कोई नहीं, स्वयं का चैतन्य स्वरूप है, जिसे शुद्ध और निर्मल स्थिति में यदि देख लिया तो समझिये, परमात्मा के ही तो दर्शन कर लिये।

आदर्श एवं सहयोग से सुदृढ़ता

आदर्श एवं सहयोग के आश्रय से आत्मा में ऐसी सुदृढ़ता उत्पन्न हो जाता है कि विकट से विकट परिस्थिति में भी उसका चित्त चलायमान नहीं होता है।

इस प्रकार के आदर्श एवं सहयोग से प्राप्त सुदृढ़ता प्रत्येक विकासोन्मुख आत्मा के लिये न सिर्फ वांछनीय है बल्कि उसे अपनी चेतना एवं साधना द्वारा प्राप्त करने हेतु जागरूक बनना चाहिये।



अमृतपान या विषपान



षष्ठ प्रवचन

दिनांक २० सितम्बर, १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

"जेहने पिपासा हो अमृतपान नी, किम भांजे विषपान.............."

अभिनन्दन भगवान् की प्रार्थना करते समय यही कहा जा रहा है कि यद्यपि उनके दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं, फिर भी उनके दर्शनों की अतुलनीय प्यास है। किन्तु उसके साथ ही कवि कहते हैं कि प्रार्थना का शाब्दिक उच्चारण मात्र करने से दर्शन नहीं हो जाएंगे। दर्शन हो-दर्शन हो, यह कहा तो जावे किन्तु उसके अनुसार भावना और साधना का संयोग नहीं हो तो उस वचन मात्र से दर्शनों की आशा रखना सर्वथा दुराशा मात्र ही होगा।

भगवान् के दर्शन की प्यास का जो उल्लेख किया गया है, वह वाणी मात्र का उपक्रम नहीं है बल्कि एक कठिन पराक्रम का मार्ग है। जो अपनी आत्मा के दर्शन कर लेता है, वही परमात्म-दर्शन है तथा अपनी आत्मा के दर्शन से अभिप्राय यह है कि अपने मन, वचन, कर्म के सत्प्रयास से अपनी आत्मा को उसके मूल निर्मलतम स्वरूप में प्रतिष्ठित कर दी जाय। तात्पर्य यह है कि भगवान् के दर्शन के लिए मन, वचन एवं कर्म तीनों का सत्प्रयास आवश्यक है।

समग्र पुरुषार्थ की ऐसी वृत्ति वाले पुरुष के लिए ही कहा गया है कि वह पुरुष अमृतपान की अभिलाषा रखने वाला होता है और यदि उसे कोई विषपान का रास्ता दिखावे तो क्या उसकी अमृतपान की प्यास शांत हो सकेगी?

मन, वाणी और कर्म का संयोग

प्रार्थना के संकेत का यही अर्थ है कि केवल वाचिक निदान किसी भी समस्या का सही निदान नहीं होता है। समस्या का समाधान मन, वाणी और कर्म—तीनों के एकरूप संयोग से ही प्राप्त किया जा सकता है। कोई प्रार्थना करने वाला जोर-जोर से गाकर उस का उच्चारण कर ले तथा दर्शन-दर्शन की रट लगा दे—तो क्या इसी क्रिया मात्र से उस को भगवान् के दर्शन संभव हो सकेंगे? ऐसा संभव नहीं है। आप सर्पदंश की दवा जानते हैं और किसी को सांप ने काट लिया, तब उसके सामने सिर्फ दवा का उच्चारण करते रहें तो क्या सर्पदंश ठीक हो जायगा?

अकेली वाणी से कुछ नहीं होगा। उस वाणी के साथ मन को जोड़ना होगा तथा भावनापूर्वक साधना का कर्मठ मार्ग अपनाना होगा, तब कहीं

कार्य की सम्पन्नता बनेगी । शाब्दिक कला का विस्तार भी हो सकता है कि कोई कई ग्रन्थों का अध्ययन कर ले, दार्शनिक विचारों को जान ले तथा आत्मा परमात्मा के स्वरूप को भी समझ ले, किन्तु तदनुकूल मानसिक चिन्तन एवं कर्मठ आचरण में यदि वह प्रवृत्ति नहीं करे तो शास्त्रों का समग्र अध्ययन भी उसके जीवन-विकास का कारण नहीं बन सकेगा । मन, वाणी और कर्म के सफल संयोग के बिना कोई भी मंजिल ऐसी नहीं, जिसे पाया जा सके ।

वाणी भी कैसी हो ?

तीनों के संयोग से भी पहले यह विशेष विचारणीय तत्त्व है कि स्वयं वाणी भी कैसी हो ? क्या कैसी भी वाणी से काम बन जायगा ? ऐसा तो सांसारिक व्यवहार में भी नहीं होता है । वाणी मीठी और नम्र और उससे भी ऊपर सच्ची नहीं हो तो कोई भी काम नहीं बन सकता है । झूठी बोली से विरोध ही पैदा होता है । एकान्तिक वाणी बोले तब भी हठ ही प्रकट होता है, जिससे समस्या नहीं सुलझती । वाणी का जीवन में बहुत बड़ा महत्व गिना जाता है और वाणी को एक प्रकार से इसका प्रतीक माना जाता है कि बोलने वाला हकीकत में मनमें क्या विचार रखता है तथा उस वाणी के अनुसार वह उसका कार्यरूप कैसा दिखायेगा ?

अतः वाणी का आध्यात्मिक दृष्टि से तो और भी अधिक महत्व है । इसी महत्व को सुव्यवस्थित एवं आत्माभिमुखी रखने के लिए जैन दर्शन का नयवाद है । नयवादी वस्तुस्वरूप की सभी अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर वाणी का उच्चारण करता है ।

नयवादी एकान्तवादी नहीं होता

दार्शनिक दृष्टि से विवेचन आता है कि वाणी का प्रकटीकरण तीन प्रकार से किया जा सकता है । एक मनुष्य बोलता है सदैव और दूसरा बोलता है शाश्वत, किन्तु तीसरा बोलता है स्यात् कथंचित् । वस्तु-स्वरूप की नजर से जब तीनों के कथनों को तोला जाता है तो उसकी तीन अवस्थाएं होती हैं—दुर्नय, सद्नय और प्रमाण । सदैव का अर्थ है सत् एव अर्थात् सत् यही है, जिसका अभिप्राय होता है एकान्तवाद । जो कहा जा रहा है, वही सत्य है—यह एकांतवादी वाणी है । वस्तुस्वरूप की सही स्थिति होती है कि जहां एकान्तवाद है, वहां पूर्ण सत्य नहीं है ।

किसी भी वस्तु अथवा तत्त्व का स्वरूप एक-पक्षीय नहीं होता । उसके कई पक्ष और पहलू होते हैं, अतः जो उन सबको ध्यान में रख कर बोलता है, वह कथंचित् शब्द का ही प्रयोग करता है, क्योंकि जो पक्ष वह रख रहा

है, उसके सिवाय भी उसके कई पक्ष होते हैं। वैसी अवस्था में एक ही पक्ष पर हठ कैसे किया जा सकता है ? दुर्नय और सद्‌नय का यही अन्तर है । जैन-दर्शन का नयवाद सभी पक्षों को देखने की प्रेरणा देता है और सभी सत्यांशों को मिला कर सत्य का पूर्ण स्वरूप देखने की चेष्टा करता है—इसी कारण नयवादी कभी एकान्तवादी नहीं होता । वीतराग देव के वचनों में आस्था रखने वाला 'ऐसा भी हो सकता है' वाणी के इस रूप को ही बोलता है । 'ऐसा ही है'—यह कहने में एकान्तवादी हठ प्रकट होता है और ऐसा हठ करने पर जो उस कथन में सत्यांश होता है, वह भी असत्य का रूप ले लेता है । दुराग्रह है, वही दुर्नय है । मैं कहता हूं, उसमें भी सत्यांश है और जो दूसरे कहते हैं, उसमें भी सत्यांश हो सकता है—यह सद्‌नय की भाषा है ।

वैचारिक सामंजस्य की दिशा

सामंजस्य की दृष्टि से जैनदर्शन के दो सिद्धांत अहिंसा और अनेकांत-वाद (नयवाद) आचारगत और विचारगत सामंजस्य के रूपक हैं । अहिंसा के सूक्ष्म रूपों को भी जो अपने जीवन में उतार कर चलता है, वह आचरण के किसी भी संघर्ष में नहीं आता है क्योंकि वह किसी को किसी भी रूप से कष्टित नहीं करता । यही 'जीओ और जीने दो' का सिद्धांत कहलाता है । आप जिओ किन्तु इस तरह कि दूसरे के जीवन में आप कहीं भी व्यवधान नहीं बनो । जैसे आप अपनी ज्ञान की आंखें फैला कर जीते हो, उसी तरह आप अपनी तरफ से अंधों को भी जीने का अवसर दो—यही सच्चे जीवन की शिक्षा है । इस प्रकार के जीवन को जो अपने विचारों में संजोते हैं, वे सन्नयवादी कहलाते हैं ।

सन्नयवादी इसी प्रकार वैचारिक सामंजस्य का सूत्रधार होता है । मुझे विचार करने का अधिकार है तो दूसरों के विचारों का समादर करने का भी मेरा कर्तव्य है—यही सन्नयवादी सोचता है । 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध:' और इस दृष्टि से सन्नयवादी सभी विचारों का मंथन करता है और उसमें से सत्य का नवनीत निकालता है । मैं विचारता हूं—वही सत्य है और जो दूसरे कहें—उसका तिरस्कार किया जाय तो यह भावना प्रभु के मार्ग की भावना नहीं है ।

विचार और आचार का तालमेल

आत्मा वचन की दृष्टि से या केवल बौद्धिक कला के प्रयोग से प्रभु के दर्शन की रट लगा ले और यह भी समझ ले कि आत्मा और परमात्मा का वास्तविक स्वरूप समान है, लेकिन तदनुसार अपने आचरण की पद्धति एवं

शृंखला का वह निर्धारण नहीं करे तो वैसी रट भी दुर्नय का प्रतीक बन जाती है क्योंकि नीति यह है कि विचार और आचार का तालमेल बैठना ही चाहिये । यदि विचार के अनुसार ही जीवन में आचरण नहीं है तो कोई भी आत्मिक उपलब्धि कैसे प्राप्त होगी, क्योंकि उपलब्धि तो साधना का फल होता है ।

प्रभु की प्रार्थना में इस कारण यह संकेत दिया गया है कि अगर वैचारिक नयवाद के साथ भी इन्सान आचरण के दुर्नय को रखता है तो वह अमृतपान के स्थान पर विषपान जैसा ही बन जाता है । अमृत विचार में भी हो तो अमृत आचार में भी होना चाहिये । वस्तु के सभी पहलुओं का स्वस्थ रीति से जब चिन्तन किया जायगा तो उससे आचार का पहलू क्यों वंचित रहेगा ? सद्नय के साथ अगर प्रमाण को ग्रहण किया जाता है तो उसके द्वारा वस्तु का समग्र स्वरूप ही ग्रहण होगा । जब एक पहलू पर विचार करें तो यह स्वाभाविक है कि उस समय वह पहलू प्रमुख रहे किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि दूसरे पहलू गौण रूप से भी ध्यान में नहीं रहें । दूसरे पहलुओं के ध्यान में रहने से ही प्रमुख पहलू पर भी सदाशयता से विचार होगा और उसमें कभी भी दुराग्रह जन्म नहीं लेगा । सभी पहलुओं की अपेक्षा से ही वस्तु के समुच्चय स्वरूप का जो ज्ञान होगा, वही ज्ञान सत्य की ओर ले जाने वाला भी होगा ।

आत्मा के समग्र रूप का दर्शन

प्रामाणिक साधक सदा प्रमाणपूर्वक ही सब कार्य करता है और उसी प्रमाण-नय के साथ आत्मा के समग्र रूप का भी दर्शन करता है । आत्मा के स्वरूप को भी 'कथचित्' शैली में देखना होगा । अपनी वर्तमान पर्याय से आत्मा कथंचित सत् है तो कथंचित् असत् भी हो सकती है । द्रव्य की दृष्टि से एक रूप है तो पर्याय की दृष्टि से दूसरा रूप भी हो सकता है । आत्मा के एक ही गुण पर चिन्तन करें और दूसरे गुणों को भुलादें तो वह चिन्तन भी अधूरा और असत्य हो सकता है । एक गुण का चिन्तन भी अन्य गुणों की अपेक्षा से किया जाना चाहिये ।

आत्मा के एक गुण के दर्शन के समय भी अन्य गुणों का अवकाश रख कर यह कहा जाय कि देखिये, आत्मा ज्ञानवान् है—ज्ञान उसकी शक्ति है, लेकिन इसका सार्वजनिक प्रतिपादन इस तरह किया जाना चाहिये कि आत्मा में दर्शन की शक्ति है, चारित्र की शक्ति है और अन्य गुणों की शक्तियां हैं और इन सभी शक्तियों के साथ ज्ञान की शक्ति का भी सम्बन्ध है तो ऐसा

प्रतिपादन नयवादी होगा, एकान्तवादी नहीं । एक गुण का समादर करें व दूसरे गुणों का तिरस्कार करें या न मानें तो वह एकान्तवाद होता है । ज्ञान की मात्रा का जब विवेचन करेंगे तो मुख्य वस्तुज्ञान होगा । जब अन्य गुणों का वर्णन करने जायेंगे तो आत्मा की शक्ति का जो ज्ञानी स्वरूप है, वह उस समय विचार में गौण बन जायगा । लेकिन सभी दृष्टियों से उसका प्रतिपादन करेंगे तो वह नय-स्थिति होगी ।

आत्मा की समग्र स्थिति का ज्ञान करना एक प्रकार से अमृतपान का तरीका है । आप इसको एक मोटे उदाहरण से समझें । किसी को रजोहरण की जानकारी करानी है तो उसके लिये रजोहरण की एक फली दिखा कर बताया जाय कि ऐसी कई फलियों को मिलाने व बांध देने से रजोहरण तैयार हो जाता है । पूरे रजोहरण को समझाने हेतु यह एक फली एक माध्यम के रूप में बन गई । यह माध्यम अन्य फलियों की अपेक्षा रख कर चलने से प्रमाण एवं सद्नय वाला हुआ । अब किसी को केवल एक फली की ही जानकारी लेनी है और उसे एक फली दिखा कर कोई कहे कि यही रजोहरण है तो वह सद्नय नहीं है क्योंकि एक फली पूरा रजोहरण नहीं, रजोहरण का अंग मात्र है । जब एक फली ही रजोहरण कही जायगी तो उसका अर्थ निकलेगा कि अनेक फलियां रजोहरण नहीं हैं और वैसी स्थिति में एक फली के (एक अपेक्षा से) रजोहरण होने का सत्य भी झूठा हो जायगा । इसी नयवाद की नजर से आत्मा के समग्र स्वरूप के दर्शन करने की चिन्तन-वृत्ति बननी चाहिए जो समग्र सत्य की दिशा में गतिशील बन सके ।

विचार स्थिति में सच्चाई हो

जब तक आत्मा के विकास में परिपूर्णता प्राप्त नहीं हो तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि उसने जो कोई विचार प्रकट किया है, वह पूर्ण सत्य ही है । अपने-अपने विकास के क्रम एवं अन्तरशक्ति के प्रकटित होने के अनुसार प्रत्येक आत्मा की विचार-प्रामाणिकता भी भिन्न-भिन्न होती है किन्तु इस अवस्था के साथ कि उसमें न्यूनाधिक अपूर्णता तो है ही । जब यह अपूर्णता दुर्बलता की परिचायक है और इस दुर्बलता के साथ रहते अगर कोई स्वयं के विचार को पूर्ण सत्य मान कर और दूसरों के विचारों का तिरस्कार करके चलता है तो उसका यह एकान्तवाद झूठा तो होता ही है मगर दम्भी भी बन जाता है ।

इस कारण जैसी भी विचार-शक्ति उस आत्मा के पास है, उसकी मौजूदगी में विचार स्थिति में अवश्य ही सच्चाई होनी चाहिये । अपनी योग्यता

के परिमाण में यदि विचार में सच्चाई होगी तो उस आत्मा की वाणी अधिकाधिक प्रामाणिक बनती जायगी ।

इस दृष्टि से परमात्म-दर्शन याने कि आत्म-दर्शन की जिसको पिपासा लगी हो, वह दर्शन शब्द का उच्चारण करे, यह ठीक है लेकिन उसके साथ ही अगर वह सच्चाई से दर्शन करने योग्य जितने भी आत्मिक गुण हैं, उनको समझने तथा उन्हें प्राप्त करने के लिये सच्चे प्रयास करे तभी यह मानना चाहिये कि वह आत्म-दर्शन की दिशा में अवश्य ही आगे बढ़ रहा है । उसके विचार और आचार सद्-नयवादी हैं । तब वह यह भी सोचेगा कि अभी जितने प्रमाण और बुद्धि के विकास की आवश्यकता है उसके अभाव में आत्म-दर्शन का समग्र रूप भले ही प्रकट न हो, किन्तु विकास की पूर्णता के साथ दर्शन की समग्रता भी प्रकाशित होती जायगी । आवश्यकता है कि सद्नय के साथ विचार स्थिति में पूरे तौर पर सच्चाई हो, जो आचार क्रम में भी निरन्तर प्रवाहित होती रहे।

अमृतपान क्यों : विषपान कैसे ?

वस्तु या तत्व स्वरूप के ज्ञान में यदि सद्नय के मार्ग पर चले यानी कि विचार समन्वय की दृष्टि रखी तो उसके साथ आचरण की दिशा अवश्य ही स्वस्थ बनेगी । विचार और आचार की इस प्रक्रिया की उपमा कवि ने अमृतपान से दी है । जो व्यक्ति एकान्तवादी हठ को छोड़ कर नयवाद के आधार पर वस्तु को उसके सभी पक्षों की दृष्टि से जानना चाहता है और उसी के अनुरूप जो अपने आचरण को भी सत्य का अभिमुखी बनाता है, वह व्यक्ति एक प्रकार से अपने श्रेष्ठ चिन्तन एवं आचरण से अपने जीवन में अमृतपान करता है ।

इससे विपरीत वृत्ति वाले व्यक्ति के लिये यह कहा जाना उपयुक्त होगा कि वह शारीरिक आयु से जीवन जीते हुए भी एक तरह से जहर पीता है । मनुष्य जीवन भी मिले और जीवन के उत्थान का प्रयास न किया जाय बल्कि बेभान होकर अज्ञान दशा में विचार से पतित बने या आचरण से विकृत बने तो इसे विषपान ही कहना चाहिये । प्रामाणिकता छोड़ कर वह जीते हुए भी जहर पीता रहता है । दुर्नय का मार्ग जहर का मार्ग ही तो होता है । प्रमाण और कर्तव्य से हीन बन कर कोई शांति से अशांति की ओर तो सत्य से असत्य की ओर ही अधिक गिरेगा । विष पीने से मौत होगी—यह हकीकत है किन्तु जो अज्ञान दशा में पड़ा रहे, वह मौत को भी तो कहां समझता है ।

आत्मा की मौत बुरी होती है

अपने स्वरूप से तो आत्मा अमर है, किन्तु अपने पतन की दृष्टि से—आवरण की अपेक्षा से उसकी बार-बार मृत्यु होती है। मृत्यु जीवन की विपरीत दशा का नाम है और आत्मा में अपने मूल स्वरूप तथा आन्तरिक दर्शन का जीवन धुंधला पड़ जाय या दब जाय तो सादी भाषा में उसे आत्मा की मौत ही तो कहेंगे। उठने की जीवट तक न रहे तो वह मौत नहीं, तो क्या है?

इस तरह की आत्मा की मौत विकारों में फंसने के साथ पतनावस्था में बार-बार होती है जब अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र के तेज को भुला कर वह निस्तेज और मृतवत् बन जाती है। शरीर की मौत तो एक बार हुई, फिर दूसरा शरीर उस आत्मा को मिल जाता है, लेकिन आत्मा की ऐसी मौत बुरी होती है। अपनी स्वस्थ संज्ञा से एक बार वह जो गिरती है तो न जाने कितने दीर्घकाल तक वह मिथ्यात्व में भटकती फिरे—उसका कोई प्रमाण नहीं। उन अंधेरों से निकलना और प्रकाश की किरण पा सकना, फिर उस आत्मा के लिये एक अति दुष्कर कार्य हो जाता है।

किन्तु जो आत्मा नय-विधि से प्रभु के मार्ग को ग्रहण कर लेती है, वह अमृत पीकर अपने जीवन को अमर भी बना लेती है। विष मृत्यु का नाम है तो अमृत जीवन का।

अमृतपायी की परीक्षा

सद्नय और सदाचार का जो अमृत पीता है, उसे अपने अमृत की प्रामाणिकता प्रमाणित करने के लिये कई बार कठिन परीक्षाओं में से होकर गुजरना पड़ता है। पीतल की परख नहीं करते, परखा सोने को जाता है और उसके लिये भी उसे आग में तपाया जाता है। आग की कठिन यातना को झेलने के बाद सोने में जो निखार चमकने लगता है, उसी से पता चलता है कि यह स्वर्ण है। इसी प्रकार जीवन में जो अमृत पीने वाला है, उसे ही पग-पग पर कठिन परीक्षाएं देनी पड़ती हैं तथा इन कठिन अवस्थाओं में सफलतापूर्वक अपनी आत्मिक आभा प्रकाशित करने के बाद ही संसार उसे अमृतपायी मानता है और वैसा सम्मान देता है।

आप क्या पी रहे हैं, क्या पियेंगे?

सार की बात यह है कि आप अपने जीवन का अवलोकन करें और जांच करें कि आप अपने जीवन में, वर्तमान में क्या पी रहे हैं— अमृत या

विष ? और यदि आपको लगे कि उस में विष की मात्रा अधिक है तो क्या उस साहसी ज्ञान और कर्मठता को जगा सकेंगे जो आपके जीवन में सत्य का प्रकाश फैलावें तथा विष को दूर करके सब ओर अमृत का रस-संचार करें। आप क्या पी रहे हैं और क्या पियेंगे— दूसरे इसकी आलोचना करें, उसकी अपेक्षा आत्मालोचना अधिक श्रेयस्कर होगी ।



आत्म-दर्शन की तीव्र तृषा



सप्तम प्रवचन

दिनांक २१ सितम्बर १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

"तरस न आवे हो मरण जीवन तणो, सीजे जो दर्शन काज ...."

प्रभु के दर्शन की तीव्र तृषा में भगवान् अभिनन्दन की प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण किया जा रहा है और आज अंतिम पंक्तियां हमारे सामने हैं कि—

तरस न आवे हो मरण–जीवन तणो, सीजे जो दर्शन काज ।
दरिसण दुर्लभ सुलभ–कृपा थकी, 'आनन्दघन' महाराज ।।

इन पंक्तियों के अर्थ–विन्यास की दृष्टि से यह चिन्तन का विषय बन गया है कि प्रभु के दर्शन की हमारी तृषा शांत हुई अथवा नहीं । शांत होने की बात छोड़िये, दर्शन के समीप भी हम पहुंचे हैं या दर्शन की दिशा में भी प्रस्थान किया है अथवा अभी तक वहीं बैठे हैं, जहां प्रार्थना के प्रारम्भ करते समय थे । इस आत्मालोचना के बिना तो प्रार्थना करने का उद्देश्य ही सफल नहीं होगा ।

यह आप समझ चुके हैं कि परमात्मा का दर्शन आत्मा के दर्शन के साथ है । जड़ पदार्थों के व्यामोह से हट कर जब अपने अन्तरतम में झांकें, वहां फैले हुए अंधकार और मैल को समझें और उसके स्थान पर प्रकाश एवं निर्मलता का प्रसार कर सकें, तब आत्मा के मूल स्वरूप के दर्शन हो सकते हैं । आत्मा जब अपने मूल स्वरूप में पहुंच जाती है, तभी वह परमात्म-स्वरूप का वरण कर लेती है । इस तरह जो आत्म–दर्शन है, वही प्रभु का दर्शन है ।

भावना और साधना का बल

आत्मा का दर्शन स्वयं की भावना और साधना पर निर्भर है । भावना सम्यक्ज्ञान एवं दर्शन के साथ दृढ़ निश्चय कराती है तो साधना उस दृढ़ निश्चय को कार्य रूप देती है । भावना और साधना के संयुक्त बल का ऐसा उग्र प्रभाव होता है कि आत्म–दर्शन की तृषा शांत होने की ओर बढ़ जाती है । फिर मार्ग में चाहे जितने कठोर संकटों का सामना हो—आवरणों का चाहे जितना जटिल घनत्व हो, एक भावुक साधक उन सबको गिराता और छेदता हुआ अपने साध्य की ओर बढ़ जाता है । साधना यदि इस प्रकार भलीभांति

लेना चाहिये । यह परित्याग जितना उच्चतर बनता जाएगा तो जीवन की विशालता और महानता भी उतनी ही श्रेष्ठतर होती जाएगी ।

दार्शनिक दृष्टि से संसार का मूल ममत्त्व होता है । यह ममत्त्व मनुष्य के मन को पौद्गलिक सुखों से जोड़ता है और उन्हें अपना मान कर उनकी प्राप्ति में उसे हर्षित बनाता है। उनके नहीं मिलने या छूट जाने पर यह खेद में डुबोता है । जितना अधिक ऐसा ममत्त्व होता है, उतना ही जीवन संकुचित, छोटा और स्वार्थी बनता है । इस कारण इस ममत्त्व का जितना परित्याग किया जाता है, उतना ही जीवन में परार्थ आता है और उतना ही जीवन जड़त्व से दूर हट कर चैतन्य के प्रकाश की ओर बढ़ता है । ममत्त्व का परित्याग ही इस जीवन की महानता का द्योतक बनता है ।

अब सोचिये कि यह ममत्त्व कहां-कहां है ? धन, वैभव, सत्ता और सम्पत्ति में आपका ममत्त्व है या नहीं ? परिवार के ममत्त्व में आप कहां-कहां किस रूप में फंसे हुए हैं ? और सब से ऊपर आपका अपने शरीर के प्रति कितना गहरा ममत्त्व है ? यह भी सोचिये कि ममत्त्व के ये सारे आंकड़े जीवन में कितनी गहराई तक घुसे हुए हैं ? इस सारी परिस्थिति का सही ज्ञान करने के बाद ही "परित्याग कैसा और कितना"—इसका निर्णय निकाला जा सकेगा। जितना ममत्त्व गहरा, उतना ही परित्याग कठोर होगा । जितना परित्याग कठोर होगा, उतनी ही साधना कठिन बनानी पड़ेगी ।

मानव जीवन और साधना के सोपान

जैसे प्यासे को जल की धुन लगी रहती है, उसी प्रकार दर्शन की तीव्र तृषा को लेकर जो चलता है, उसे उस हेतु साधना की एकाग्र लगन लग जाती है । वह परिग्रह, परिवार तो छोड़िये, स्वयं के शरीर का मोह भी त्याग देता है । किसी भी मूल्य पर वह अपनी दर्शन की तृषा को शान्त करना चाहता है । यह एक ही विषय उसके मन और मस्तिष्क को झकझोरता रहता है कि मुझे कब और कितनी जल्दी आत्मा के दर्शन सुलभ हों ।

मानव जीवन की उपलब्धि इस पवित्र तृषा को शान्त करने के सबल साधन के रूप में ली जानी चाहिये । इस समृद्ध जीवन में भी यदि दर्शन की तृषा शान्त नहीं की जा सकी तो समझ लीजिये कि वह कब शांत हो सकेगी—उसका फिर कोई ठौर ठिकाना नहीं । अन्य योनि में तो न परमात्मा के दर्शन का ठिकाना है, न आत्मा के साक्षात्कार का । यह मानव का चोला है, जिसमें रहते हुए अगर आत्मा ने पुरुषार्थ कर लिया और साधना के सोपानों पर वह चढ़ गई तो वह पूर्णता प्राप्त कर लेगी । जितनी इस जीवन के साथ साधन

शक्ति है, उस स्थिति से इन्सान को यदि अपने लक्ष्य की तरफ बढ़ने की प्रेरणा मिले तो अपनी सारी प्रतिकूल परिस्थितियों पर भी विजय प्राप्त करता हुआ वह दर्शन–लाभ के लक्ष्य तक अवश्य ही पहुंच जाएगा।

समभावी साधु-जीवन

ममत्व का जितना परित्याग किया जायगा, उतनी ही समत्व की स्थिति उत्पन्न होगी। मेरा नहीं सो सबका है और सबका है तो समान रूप से सबका है—यही समत्व की बुनियाद है। ममत्व से मनुष्य सुखों को सिर्फ अपने और अपनों के लिये बटोरना चाहता है तो समत्व में उन्हें वह सबके लिये बिखेर देना चाहता है। यह तो समत्व की निचली श्रेणी की बात है, मगर इसकी ऊपरी श्रेणियों में मनुष्य ऊपर चढ़ता है तो वह अपना सब कुछ दे डालता है और अपने लिये कुछ भी नहीं रखना चाहता। वह देता ही जाता है, सब कुछ देता जाता है। ऐसे सर्वस्व त्यागी के जीवन को ही साधु–जीवन कहा जाता है, जिसका त्यागमय भावना से घनिष्ठ संबन्ध हो जाता है।

ऐसा साधुत्व जिस साधक के अंतरतम में समा जाता है, वह अवश्य आत्म–दर्शन की दिशा में आगे बढ़ जाता है, क्योंकि वैसे जीवन में समभाव की श्रेष्ठता प्राप्त होती है। यही समभाव सांसारिक जीवन में समता का प्रसार करता हुआ आत्मा को परमात्मा के साथ समभाव की स्थिति में ले जाता है। साधु–जीवन बताता है कि साधु के अन्दर रहने वाली आत्मा अपने स्वरूप का और परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहती है। इसी चाह के लिये साधु–जीवन धारण किया और समभाव की साधना के साथ गति की, लेकिन कदाचित् उस समभाव की स्थिति में चलते और दर्शन के समीप पहुंचते हुए आन्तरिक जीवन के विकारों का विघ्न उपस्थित हो जाय तो उस समय वह साधक क्या करे?

"आयावया ही चय सोगमल्लं"

इसके लिये शास्त्रीय संकेत है कि हे साधक, यदि तुम प्रभु के दर्शन का सुख लाभ लेना चाहते हो तो तुम्हारे मन में से उन सब विकारी भावनाओं को निकाल दो जो बार–बार प्रयास करने पर भी मन से नहीं निकलती हैं। मन के विकार जो दर्शन में बाधक बनते हैं तो उनसे मन को एकाग्र बनाने के लिये 'सोगमल्लपने' का त्याग करें। जितना इन्सान 'सोगमल्लपने' में रहता है, उतने ही मानसिक विकार प्रबल बनते हैं और इसका त्याग करने पर विकारों का दमन होता है।

कहा गया है कि यदि तुम सोगमल्लपने का त्याग करके 'आतपना' (अर्थात् सूर्य की ऊष्ण किरणों से शरीर को तपाते हुए मन को पवित्र बनाने का प्रयास करना) लेते हो तो उससे शरीर-मोह घटकर मन के विकार सूखते जायेंगे। कदाचित् आतपना लेने से काम नहीं बने और विकारों का विघ्न उपस्थित हो जाय तो शास्त्रकारों का कथन है कि साधु तब वहां से विहार कर जाय। भगवान् महावीर ने साधु के लिये कम से कम ९ कल्पी विहार बताए हैं—८ महीनों का तो १-१ बिहार तथा ९ वां चातुर्मास का विहार। यह अल्पतम संख्या है कि चातुर्मास के चार माह के सिवाय साधु कहीं भी २९ रात्रि से अधिक नहीं ठहरे। विहार करते रहने से जीवन में अधिक पवित्रता आती है क्योंकि जिन कष्टों को झेलते हुए विहार करना पड़ता है, उनसे शरीर का मोह घटता जाता है। जितना मोह घटता है, उतनी ही आत्म-दर्शन की तृषा तीव्रता से साधना-पथ पर अग्रसर होते रहने की उग्र प्रेरणा देती रहती है। बहता जल जिस तरह निर्मल रहता है, उसी तरह विचरता हुआ साधु भी पवित्र बना रहता है।

साधु तो रमता भला।

साधु एक स्थान पर अधिक ठहरता है तो चाहे काम की वासना हो या दूसरी विकृति—उसके पनपने की आशंका रहती है। इस आशंका के साथ ही दर्शन की तृषा के भी दुर्बल पड़ जाने की आशका पैदा हो जाती है। इस कारण भगवान् महावीर ने निर्देश दिया कि जहां तक साधु की शक्ति है, विहार करते रहो—अगर लकड़ी के सहारे भी चल सकना हो तब भी वह एक जगह नहीं ठहरे। पूरी अशक्त अवस्था में ही वह स्थविर हो सकता है। विहार करते रहने पर नया-नया वायुमंडल मिलता है, नया-नया साधना क्षेत्र दिखाई देता है तथा नये-नये पुरुषार्थ से मानसिक विकारों की समाप्ति की जा सकती है। साधु के संसार छोड़ने का अभिप्राय यही है कि उसने ममत्व से मुख मोड़ा है-धन, परिवार आदि का मोह छोड़ कर शरीर-मोह से छुटकारा पाना चाहा है। वैसी स्थिति में विहार साधु की संयम-निर्मलता को अक्षुण्ण बनाये रखता है।

"साधु तो रमता भला" इसीलिये कहावत बनी है। राजकीय व्यवस्था में भी आप देखते हैं कि कर्मचारियों के तबादले किये जाते हैं, वे इसी कारण कि किसी एक स्थान पर किसी के स्वार्थ निहित न बन जायं। एक जगह बंध कर पड़ा रहने वाला पानी ही गंदला होता है। धर्म और नैतिकता की रक्षा के लिये पानी को गदला होने के लिये नहीं बांधना चाहिये, बल्कि

उसे प्रवाहित होते रहने देना चाहिये। साधु सब ओर रमते–रमते ही आत्मा में रमने लगता है और ममत्त्व से मुक्त होकर आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

आत्मदर्शन क्या प्रभु कृपा से ?

कवि आनन्दघन जी ने प्रार्थना में कहा है कि भगवान् की कृपा दृष्टि हुई तो मुझे दर्शन हो जायेंगे। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या वहीं दर्शन हैं, जहां प्रभु की कृपा–दृष्टि है और कृपा–दृष्टि नहीं हैं तो क्या दर्शन नहीं है ? क्या प्रभु की आत्मा के ऊपर अकृपा है या क्या वे कृपालु नहीं हैं? अथवा क्या वे उसी पर कृपा करते हैं जो उनकी भक्ति करता है और अन्य पर नहीं ? अगर इस प्रकार की वृत्ति प्रभु में मान ली जाय तो क्या उनका स्वरूप शुद्ध मना जायगा अथवा अशुद्ध ?

यदि भगवान् कृपा–अकृपा के प्रपंच में पड़ते हों तो शायद वे भगवान् ही नहीं रहेंगे। फिर तो उनकी तुलना उस अधिकारी से की जा सकती है जो रिश्वत के जरिये कृपा या अकृपा करता है। अतः प्रभु–कृपा के कथन का सही आशय यह है कि हम अपनी आन्तरिक कृपा को बनावें। अन्तर के चेतन प्रभु की कृपा हुई तो आत्म–दर्शन अवश्य हो जायेंगे।

एक दृष्टि से भगवान् दो तरीके के हैं। एक तो शुद्ध परमात्मा जो अष्ट–कर्म से रहित शुद्ध अवस्था में आनन्दपूर्वक निर्वाण स्थिति में विराजमान हैं। वे तटस्थ दृष्टा होते हैं—संसार के किसी भी पदार्थ से उनका लाग-लगाव नहीं होता। दूसरे भगवान् वे जो अपने ही अन्तर में बैठे हुए हैं—प्रत्येक के अन्तर में बैठे हुए हैं। ये भगवान् कर्मलिप्त होने के कारण अभी तेजवान् न दिखाई देते हों किन्तु ज्यों ही कर्मों का आवरण हटता है, इनका तेज प्रकट होते–होते उसी अन्तिम विन्दु तक पहुंच जाता है जो स्वयं प्रभु का तेज होता है। अतः जागरण–अवस्था में अपने ही आत्मप्रभु की जितनी अधिक कृपा होगी, उतने ही शीघ्र उसके दर्शन सुलभ हो सकेंगे—इसमें कोई संदेह नहीं है।

प्रभु कृपा तो सूर्य-किरण सी होती है

सूर्य का प्रकाश आपके सामने व्यापक रूप से आ रहा है और यह सभी के पास समान रूप से पहुंच रहा है। क्या प्रकाश–दान में उसकी कोई भेद-भरी स्थिति है ? सूर्य अपनी गति से आकाश में समभाव से चलता है किन्तु ज्ञानी पुरुष उस फैले हुए प्रकाश से अपना मार्ग ढूंढ़ लेते हैं। इस के विपरीत जो अज्ञानी, मोहग्रस्त और सुषुप्त बने रहते हैं, वे उल्लू की तरह उस फैले हुए प्रकाश को भी ग्रहण नहीं कर पाते हैं। जैसे प्रकाश को प्राप्त करने में सूर्य की कृपा या

अकृपा का कोई अर्थ नहीं है, उसी प्रकार प्रभु के स्वरूप को समझ कर उससे प्रेरणा पाने में भी प्रभु की कृपा या अकृपा का प्रश्न नहीं उठता ।

प्रभु-कृपा का यही अर्थ लिया जा सकता है कि उन्होंने जिस आदर्श साधना से स्वयं को कर्मावरण से मुक्त किया, उस आदर्श-साधना से कोई भी प्रेरणा ले सकता है वशर्ते उसके भीतर के नेत्र खुले हुए हों । अतः प्रभु कृपा की इस दृष्टि से सूर्यकिरण के साथ तुलना की जा सकती है जो सभी के लिये उन्मुक्त होती है ।

जड़ घटेगा, चेतन उठेगा तप से

जितना जड़ का पोषण है, उतना ही चेतन समझिये कि संज्ञाहीन है । जड़ का ममत्व घटाया जायगा तभी चेतन उठ सकेगा । जड़ का ममत्व घटेगा—जड़ का त्याग करने से—जड़ की उपेक्षा करने से । धन, वैभव, परिवार छोड़ दें, और साधु बन जावें— फिर भी शरीर के मोह से मुक्त होना आसान नहीं होता । शरीर का मोह छूटेगा शरीर की उपेक्षा से और आत्मा में अनुरक्ति से, जिस का प्रमुख साधन माना गया है—तप, जो आन्तरिक और वाह्य भेदों में १२ प्रकार का होता है । आपकी अभी तपश्चर्या में जो होड़ मची हुई है कि एक वहिन ने ४२ दिनों का पारणा किया है, दूसरी के ४८ दिन चल रहे हैं और मासखमण वगैरा मिला कर आप कहते हैं कि इतनी तपश्चर्या पहले जयपुर में कभी नहीं हुई, किन्तु इस सम्बन्ध में मेरा कहना है कि तप के साथ-साथ ममत्व की भावना को भी जरूर छोड़ते जावें ।

वास्तव में तपश्चर्या मानसिक धरातल पर होनी चाहिये । मानस में यदि तृष्णा विचर रही है और ऊपर से तप कर भी लिया, फिर भी वह आत्मिक-दर्शन की अभिलाषा को पूर्ण करने वाला बन नहीं सकेगा । असल में जड़ के प्रति मोह-भाव घटेगा तभी तप सार्थक बन कर चेतन को चेतनामय बना सकेगा । जड़त्व के मोह में यश-कीर्ति की लालसा भी शामिल है, अतः यश-कीर्ति की लालसा के साथ तपाराधन किया जावे तो वह भी उतना सार्थक नहीं होगा । तप का सच्चा अर्थ है विकारों का विनाश क्योंकि विकारों के विनाश के बिना निर्मलता का संचार कैसे हो सकता है ? तप से आतपने के साथ-साथ आत्मा में निर्मल स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है ।

तप और मर्यादा का प्रभाव

तप से आतपने के साथ संयमी जीवन के लिये आवश्यक मर्यादाओं का निर्देश दिया गया है । संयमी जीवन को उद्दाम वासनाओं के बांध को

मर्यादापूर्ण पाल के रूप में देखा गया है। यदि पाल में एक जर्रे जितना भी सुराख हो जाता है तो आशका बन जाती है कि बांध के पानी का जोर कभी भी पाल को तोड़ सकेगा । इसी कारण पाल की सुरक्षा का बहुत ज्यादा ध्यान रखा जाता है । वासनाओं का अंधड़ अच्छों-अच्छों को डिगा देता है अतः अविचल रहने के लिये संयमी जीवन की एक-एक मर्यादा की रक्षा अनिवार्य मानी गई है ।

साधु-जीवन भी अपनी मर्यादा में कायम रहता हुआ सुदृढ़ बना रहता है। साधु-जीवन की दृष्टि से पांच महाव्रत अंगीकार किये जाते हैं— फिर विद्युत् का उपयोग साधु कैसे कर सकता है ? व्याख्यानों के लिये विद्युत् यंत्रों के प्रयोग की बात कही जाती है जो उपयुक्त नहीं है, क्योंकि टेप-रेकार्ड करके कोई उस व्याख्यान को शुद्ध या अशुद्ध किसी भी स्थान पर, किसी भी मनोदशा में सुनेगा तो उस वाणी का क्या प्रभाव ? प्रत्यक्ष श्रवण में और प्राकृतिक वाणी से जो मानवीय संस्पर्श होता है—उसकी क्या तुलना ? भगवान् महावीर की मर्यादाओं की पाल को इस तरह तोड़ा जाता रहेगा तो क्या उस बांध को काबू में रखा जा सकेगा ?

इस कारण तप और मर्यादाओं के प्रभाव को उसके सही अर्थों में समझने की आवश्यकता है। संयम स्वयं मर्दादा का ही तो नाम है । संयम की सुगन्ध चारों ओर तभी फैल सकती है, जब मर्यादाओं की पूर्ण सुरक्षा हो और विकारनाश की भावना के साथ तप का आराधन किय जाय ।

मर्यादाओं की रक्षा से संयम की रक्षा होती है और मर्यादाएं टूटती हैं तो संयम की जगह वासना की फुत्कार पैदा हो जाती है ।

आत्म दर्शन और सन्त-सम्पर्क

जैसे राजनीति में नेता अगर बराबर जन-सम्पर्क न रख सके तो वह अपना अस्तित्व भी बनाये रखने में असफल हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-दर्शन की तीव्र तृषा वाले एक साधक के लिये निरन्तर सन्त-सम्पर्क एक अनिवार्य आवश्यकता है। सन्तों के सम्पर्क से वासनाओं का दमन करने एवं ममत्त्व का परित्याग करने में एक ओर कर्मठ साहस जुटता है तो दूसरी ओर आत्म-स्वरूप को निखारने वाली साधना की उमंग भी प्रगाढ़ बनती है ।

सोचिये कि आत्म-दर्शन की तृषा आपको लगी है या नहीं और यदि लगी है तो उसे शान्त करने के लिये आप अपने जीवन को कैसा मोड़ देना चाहते हैं ?

●●●

अन्तर्धन को पहिचानो !



अष्ठम प्रवचन

दिनांक २२ सितम्बर, १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

"सुमति चरणरज आतम अर्पणा, दर्पण जेम अविकार..........."

यह सुमतिनाथ भगवान् की प्रार्थना प्रारम्भ की गई है । प्रार्थना अभिनन्दन देव की हो या सुमतिनाथ जी की—भगवद् स्वरूप एक-सा ही होता है । कवि ने इसकी उपमा स्वच्छ दर्पण से दी है । दर्पण जितना स्वच्छ और निर्मल होता है, अनेकों का प्रतिविम्ब उसमें दिखाई देता है । कोई भी स्वयं की आकृति को दर्पण के माध्यम से ही देख सकता है । ऐसा करने पर ही वह जानता है कि उसका रूप-स्वरूप कैसा है ? इससे वह केवल यही नहीं जानता कि उसका स्वयं का रूप-स्वरूप कैसा है वलिक अन्य आकृतियों के साथ तुलना करके अपने रूप-स्वरूप का मूल्यांकन भी वह कर सकता है ।

परमात्म-स्वरूप की उपमा जो दर्पण से दी गई है, उसे इसी संदर्भ में समझना चाहिये । उस निर्मल स्वरूप में जब हम अपनी लौ लगाते हैं तो उसमें हमारे वर्तमान स्वरूप की तुलनात्मक स्थिति सामने आती है और विदित होता है कि उस निर्मल स्वरूप की तुलना में हमारा स्वरूप कितना मलयुक्त है ? यह तुलनात्मक ज्ञान हमें अपने स्वरूप को भी निर्मलता की ओर अग्रसर बनाने की प्रेरणा देता है ।

इस अवस्था में यह विवेक भी जागृत होता है कि यद्यपि सभी आत्माएं दर्पण के सम्मान हैं, किन्तु एक परमात्मा है जो स्वच्छ दर्पण के समान है जिसके सामने आने वाली प्रत्येक आकृति पूर्ण स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हो जाती है । दूसरी ओर अपनी आत्मा भी दर्पण के समान है मगर उस दर्पण पर इतना मैला जमा हुआ है कि न तो वह स्वयं स्वच्छ है, न उसके सामने आने वाला ही उसमें प्रतिविम्बित होता है । यह जो दोनों दर्पणों का अंतर दिखाई देता है, वही इस आत्मा को 'अपना कर्म-मैल धो डालने की सन्मति देता है ।

सुमति के दर्पण तुल्य चरण

दर्पण यद्यपि जड़ होता है तथा भगवान् के चरण चेतना के पुंज हैं, किन्तु प्रतीकात्मक दृष्टि से दर्पण में भी दो प्रधान गुण होते हैं और वे ही

गुण सुमतिनाथ के चरणों में भी हैं। ये दोनों गुण प्रतिबिम्वित होने के संबंध में हैं। पहला तो यह कि प्रतिबिम्ब बिल्कुल स्वच्छ दिखाई देता है। जो जैसी आकृति है, वह वैसी की वैसी उसमें दिखाई देती है। यह नहीं कि आकृति साफ हो और उसमें धुंधली दिखाई दे अथवा आकृति धुंधली हो और उसमें वैसी नहीं दिखाई दे।

दूसरा गुण यह होता है कि दर्पण जो प्रतिबिम्ब दिखाता है वह निर्लिप्त भाव से दिखाता है। दर्पण की कोई लाग-लपेट नहीं कि गोरे को काला दिखा दे अथवा काले को गोरा दिखा दे। जो भी उसके सामने आया उसको वह वैसे ही रूप में प्रतिबिम्वित कर देता है और उससे किसी भी तरह वह प्रभावित भी नहीं होता है। दर्पण के सामने मैले की टोकरी है तो वह उसे दिखा देगा किन्तु उससे वह खुद मैला नहीं होता। यदि सामने आग की ज्वालाएं हैं तो ऐसा दिखाई देगा जैसे ज्वालाएं दर्पण में ही जल रही हों किन्तु दर्पण को छुएंगे तो वह यथावत् शीतल मिलेगा।

प्रतिबिम्ब में स्वच्छता एवं निर्लिप्तता के दर्पण के गुण प्रभु के चरण में भी विद्यमान हैं। प्रभु के चरण भी स्वच्छ हैं—विकार-रहित होकर निर्मल हैं और जो उनसे प्रेरणा लेता है, वह भी अपने मन को राग-द्वेष व विषय-कषाय के विकारों से मुक्त बनाना चाहता है। प्रभु के चरण में भी निर्विकारी और विकारी दोनों स्थितियों का प्रतिबिम्ब गिरता है जो इतना निर्लिप्त होता है कि उससे अपनी काली आकृति निहार कर विकारी पुरुष भले ही सत्प्रेरणा ग्रहण करे अथवा नहीं, वे चरण उससे प्रभावित नहीं होते।

इस प्रकार सुमतिनाथ भगवान् के चरणों को जो दर्पण के तुल्य कवि ने बताया है, उसका मार्मिक अर्थ यही है कि प्रभु तो संसार को देखते हुए भी उससे तटस्थ हैं किन्तु हम उनके विमल स्वरूप को देखने की अपनी दृष्टि में दिव्यता उत्पन्न करके उस स्वरूप से प्रेरणा एवं अनुकरण की उमंग अपने भीतर भी पैदा कर सकते हैं।

चरणों में क्या अर्पण करें ?

जब किन्हीं महद् चरणों में पहुंचें तो वहां कुछ न कुछ तो भेंट चढ़ानी ही चाहिये। विचार की बात यह है कि प्रभु के चरणों में भेंट कौन सी चढ़ाई जाय ? यदि कोई यह सोचे कि मेरे पास जितनी सम्पत्ति है, उसे प्रभु के चरणों में भेंट चढ़ा दूं तो क्या सुमतिनाथ भगवान् उस भेंट को ग्रहण करेंगे? संसार में जितने भी पदार्थ आपकी दृष्टि में आ रहे हैं, उन सब पदार्थों को

भी यदि आप प्रभु के चरणों में चढ़ाना चाहें तो वे सब पदार्थ प्रभु की अर्पणा के योग्य नहीं हैं ।

यदि किसी को आप कुछ अर्पण करना चाहें तो उसके योग्य भेंट होगी, वही चढ़ाई जा सकेगी । किसी की योग्यता के प्रतिकूल पदार्थ भेंट में दें तो वह देने वाले की अयोग्यता ही जाहिर करेगी । प्रभु के निर्मल चरणों में अगर संसार के विकारी पदार्थ रखे जायं यो वह एक अयोग्य कार्य होगा । कारण कि, वे निर्मल चरण इस संसार की तमाम पौद्गलिक वस्तुओं से परे हैं । प्रभु के चरणों में यदि अर्पणा करनी है तो उनके समान उनकी जाति के तत्त्व को ही अर्पित किया जा सकता है । वही उनके लिये योग्य अर्पणा होगी । अब उनकी जाति के तत्त्व कौन-से हैं—इसका संकेत कवि ने उपरोक्त प्रार्थना की पंक्तियों में दिया है, जो इस प्रकार है—

सुमति चरण–रज आतम अर्पणा, दर्पण जेम अविकार ।।सुज्ञानी०।।
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार ।।सुज्ञानी०।।

भगवान् के चरणों में यदि कोई अर्पण–योग्य तत्त्व है तो वह स्वयं की आत्मा है और वह भी अर्पित तब होगी जब प्रभु के स्वरूप के समान ही इस आत्मा का स्वरूप भी निखर कर पूर्ण स्वच्छ एवं निर्मल बन जाएगा ।

कैसी आत्मा का अर्पण ?

प्रभु के जैसे स्वच्छ चरण हैं, वैसी ही स्वच्छ स्वरूपी आत्मा अर्पण योग्य मानी जानी चाहिये । यदि मैल या आवरण के साथ आत्मा को अर्पण करना चाहें तो पहली बात तो यह कि वैसी आत्मा को प्रभु के चरणों में अर्पित होने की अभिलाषा ही नहीं होगी तो दूसरे, वैसी मलिन–स्वरूपी आत्मा की अर्पणा प्रभु के चरणों के योग्य नहीं होगी । अर्पण करने से पूर्व आत्मा का अपना निखालिस स्वरूप बनाना चाहिये ।

एक बात और है । जिस सांचे में जिस आकार–प्रकार का यन्त्र फिट करना हो और उसकी जगह बेमाप तौल का यन्त्र हो तो क्या वह फिट हो सकेगा ? जहां पाटिया कहीं लगाना हो, उसके लिये लकड़ी का पूरा ठूंठ ही कोई ले आवे तो क्या उस ठूंठ को लगाया जा सकेगा ? ठूंठ अनघड़ चीज होती है तो पाटिया घड़ा हुआ । इसी प्रकार अनघड़ आत्मा अर्पण योग्य नहीं होती है । उसे उस योग्य बनाने के लिये पहले घड़ना होगा ।

वर्तमान आत्मा की जो पर्याय है, वह पूर्ण शुद्ध नहीं है । विकारों से लिप्त अधिकतर मानवी प्रवृत्तियां ठूंठ की तरह अनघड़ दिखाई देंगी । अनघड़

भेंट कोई सौम्य पुरुष किसी अन्य सौम्य पुरुष को प्रस्तुत नहीं कर सकता है। प्रभु तो परम सौम्य हैं ही, किन्तु यदि हमारी भेंट सुघड़ नहीं होगी तो वह भेंट तो अनुपयुक्त होगी ही मगर हम भी सौम्य नहीं कहला सकेंगे। अतः यह सुनिश्चित है कि विकार एवं कर्म-रहित बना कर ही आत्मा को उसकी सुघड़ स्थिति में प्रभु के चरणों में अर्पित कर सकेंगे। तब जो भगीरथ कार्य हमारे सामने आता है, वह यह कि आज की मलिन आत्मा को निर्मल कैसे बनावें—सारे आवरणों को कैसे हटावें ?

दीपक तले अंधेरा है या नहीं ?

कहावत है कि दीपक तले अंधेरा होता है। सब ओर वह रोशनी फैलाता है, मगर उसके खुद के नीचे हकीकत में अंधेरा रहता है। वर्तमान जीवन को देखा जाय—चाहे तो व्यक्तिगत अथवा समाजगत—तो अनुभव होता है कि ज्ञान-विज्ञान में काफी उन्नति होने पर भी जीवन की वास्तविकता के स्थान पर तो अधिकांशतः अंधकार ही दिखाई देता है।

आपसे यह पूछा जाय कि आप क्या-क्या जानते हैं तो कई भाई बता देंगे कि हम जयपुर का ही नहीं कलकत्ता, बम्बई और यहां तक कि लन्दन, न्यूयार्क आदि का विवरण भी जानते हैं। कई लोग विदेश-यात्रा किये हुए भी यहां होंगे। मैं आपसे पूछता हूं कि दूर-दूर की बातें तो आप जानते हैं, मगर क्या आप अपनी ही चीज को जान रहे हैं या नहीं ? और उसे अपनी चीज क्या कहूं—वह तो आप स्वयं हो। यदि स्व को नहीं जाना और पर को कितना ही जान लिया तो उस ज्ञान को वास्तविक कैसे माना जाय ?

आज सबसे विकट समस्या यही है कि अपने को भूल कर बाहर की बातों को जान रहे हैं, अपने अन्तर्धन से बेभान बन कर बाहर के धन को किसी भी तरह पाने के लिये बेतहाशा दौड़-धूप कर रहे हैं। देखिये, दीपक तले अंधेरा है या नहीं ?

अन्तर्धन को पहिचानिये !

आज के लोग आत्म-स्वरूप को क्या समझ रहे हैं ? वे समझते हैं, यह जो शरीर मिला है, इससे जितने पर-पदार्थों का सेवन हो सकता है, उतना कर लेना चाहिये और इसे ही सुख का मापदंड माना जा रहा है। जितने सुन्दर से सुन्दर रूप देखे जा सकें—आंखों का सुख इसे कहा जाता है। बढ़िया से बढ़िया पदार्थ चखें जाय—यह जिह्वा-सुख है तो सुगंधित पदार्थों को सूंघने में नासिका की सार्थकता कही जाती है। इसी तरह श्रवण, स्पर्श आदि

अन्य सुखों की कल्पना है। किन्तु विचारणीय यह है कि क्या ये सुख वास्तविक हैं और अन्तरात्मा को जगाने वाले हैं ? यह मन, जो इस तरह बाहर ही बाहर दौड़ता है, क्या अपने अन्तर्धन को पहिचानता है ?

आत्मा आज अपने अन्तर्धन को तो कूड़ा-कचरा समझ कर बाहर फेंक रही है और बाहर के कूड़े-कचरे को समेट कर अपने को धनी मानना चाह रही है। कैसी विडम्बना है यह ? अपने अन्दर की ऊर्जा शक्ति का वह दुरुपयोग कर रही है क्योंकि उसका सच्चा उपयोग तो अपनी आन्तरिकता को जगाने में रहा हुआ है। मानव-जीवन की शक्ति ऐसी है कि उसके पास अच्छे पावर की बैटरी है जिससे वह अगर अपने अन्दर प्रकाश करले तो बाहर का समस्त वस्तु-जगत् तो स्वयंमेव प्रकाशमान हो जाता है। लेकिन वह उस बेटरी का सदुपयोग नहीं करता और कृत्रिम प्रकाश को वास्तविक मान कर असल में अंधेरे में ही भटकता फिरता है। अपने ही अन्तर्धन को पहिचाने बिना, जो मनुष्य अंधे की तरह चलता है, उसे क्या कहें ?

क्या यह बुद्धि का सही प्रयोग है ?

ऐसे व्यक्ति को किस स्वभाव का मानें ? उसे बुद्धिहीन कहें या निद्रायुक्त बतावें ? शक्ति-रूपी बेटरी का प्रयोग बाहर और अनुपयुक्त जगह पर तो करें किन्तु घर में कतई नहीं करें तो उसे बुद्धि का सही प्रयोग कैसे कहेंगे ? अन्तर के स्वरूप को समझने का अर्थ अपने आपको समझना है—उसे जानना है जिसे आप "मैं" कहते हैं। सुहास्ते एक विचारक हो गया है। वह एक बार चिन्तन में बैठ कर कुछ खोजने लगा। उसे अपनी समस्या का निदान नहीं मिल रहा था। रात को नींद भी नहीं आई तो वह उठ कर एक बाग में चला गया और चहलकदमी करते हुए फिर सोचने लगा। उस समय बाग के माली की नींद में खटका हुआ और उसने उठ कर आवाज लगाई—कौन है ? विचारक कुछ चौंका, फिर सोचने लगा कि मैं स्वयं अपने से पूछ रहा हूं कि मैं कौन हूं—अब इसको क्या उत्तर दूं ? उसने रुकती-रुकती आवाज में उत्तर दिया कि भाई, मैं अपने ही से पूछ रहा हूं कि मैं कौन हूं ? माली ने स्वर पूरा नहीं पहिचाना और उसे पागल समझकर सो गया।

यह तो एक झलक है, किन्तु पागलपने की भी एक व्याख्या है। जो ऐसा चिन्तक हो, जो अपने आपको ढूंढ़ रहा हो और जिसे बाहर की सारी चीजें व्यर्थ मालूम पड़ती हों—उसे आप दुनिया की बोली में पागल कहते हैं किन्तु शायद आप नहीं जानते कि जिसने अपने आपको ढूंढ़ लिया हो—आत्म-स्वरूप को पहिचान लिया हो, वह दुनिया के लोभी इन्सानों को क्या समझता

है ? वह तो हकीकत में आपके पागलपने को देखता है । इसीलिये मैं कहता हूं कि आप अपनी बुद्धि का सही प्रयोग करें और देखें कि पागलपन हकीकत में किधर है ?

जीवन में चिन्तन की आदत डालिये और इन तत्त्वों की गहराई में उतरने की चेष्टा कीजिये। जितना आप अन्दर उतरेंगे, आपको नया-नया प्रकाश दिखाई देगा—पग-पग पर नये-नये आनन्द की अनुभूति होगी। बुद्धि का यही सही प्रयोग होगा ।

मनुष्य की उस भिखारी की सी अवस्था

आज आप जिस स्थिति में दौड़ रहे हैं—दूर-दूर तक दौड़ रहे हैं और अपने जीवन को स्वयं के अन्दर नहीं खोज पा रहे है, तो आपकी स्थिति उस भिखारी की तरह की हो जाती है, जो एक बाजार में नित्य-प्रति एक ही स्थान पर बैठ कर भीख मांगा करता था और प्रत्येक व्यक्ति के सामने एक-एक पैसे के लिये हाथ पसारा करता था । वह चिल्ला कर एक-एक पैसे के लिये पुकार लगाता और हाय-हाय करते हुए दिन गुजारता। इसी दुःखी दशा में एक दिन वह मर गया । मोहल्ले के लोगों ने दया करके उसकी अन्तिम क्रिया की और वापिस आकर सोचा कि अब तो भिखारी चला गया है सो उसके बैठने के स्थान को भी साफ करके रास्ते को एक-सा बना दें। वहां खोदते हुए उन्हें एक घड़ा मिला, जिसमें मोहरें भरी हुई थीं । यह देखते ही सब कहने लगे कि बेचारा भिखारी एक-एक पैसे के लिये जिन्दगी भर हाथ पसारता रहा, किन्तु उसे मालूम नहीं हुआ कि उसकी बैठक के नीचे ही स्वर्ण-मुद्राए भरी पड़ी हैं । सबने दुःख प्रकट किया कि उसने अपना जीवन बर्बाद कर दिया। भीख मांगने की बजाय थोड़ा-सा अपने नीचे ही खोद कर देख लेता तो वह निहाल हो जाता ।

यह तो भिखारी का रूपक है, किन्तु यदि मैं आपसे पूछूं कि आप अपने जीवन का कैसा उपयोग कर रहे हैं, तो आपका क्या उत्तर होगा ? क्या आपकी अवस्था भी उस भिखारी की सी नहीं है कि एक-एक पैसे के लिये आप न जाने क्या-क्या करते हैं किन्तु अपने उस अन्तर्धन को नहीं शोधते जो आपकी बुद्धि के नीचे दबा पड़ा है ? आज का मनुष्य बाहर के धन को लूटने की कोशिश कर रहा है—पैसे-पैसे के लिये छटपटा रहा है । इसी धन को खोजने और पाने के लिये चारों ओर दौड़-धूप कर रहा है परन्तु जो अन्तर्धन उसके भीतर ही भीतर फैला हुआ है, उसको वह नहीं शोध पा रहा है । अन्तर्धन का धनी ऐसा इन्सान पुत्र से कहता है—सुख दो । पत्नी से कहता

है—शांति दो और पड़ौसियों से कहता है—मुझे शाता उपजाओ। मगर वह भूला हुआ बैठा रहता है कि यह सुख, शांति और शाता उसी की आन्तरिकता में रम रही हैं।

"मेरे पास अपार अंतर्धन है और मैं भिक्षारी वन कर भटक रहा हूं"—इस स्थिति पर गहराई से आत्म-चिन्तन करने को आवश्यकता है।

आत्मा की अर्पणा का रहस्य

मानव "आत्मा की अर्पणा" के योग्य तव तक नहीं वनता है, जब तक वह अपने अंतर्धन को खोजने और पाने की क्षमता एकत्रित नहीं कर लेता है। अंतर्धन की जिसको लगन लगती है, वह आत्मा के स्वरूप को निखारता है तथा निखरी हुई आत्मा ही भगवान् के चरणों में अर्पणा के योग्य वनती है। इस योग्यता को पाने का रहस्य यही है कि वह दान, शील, तप और भावना का आराधन करे। जीवन की पवित्रता ऐसी आराधना से प्राप्त होगी।

आरावना के इन चार मार्गों को समझना जरूरी है। शक्ति के अनुसार उदारतापूर्वक दान दिया तो उस दान के देने से भी मनुष्य अपने आपको स्वच्छ वनाता है। शील पालने से आन्तरिक जीवन का शृङ्गार होता है तो तप की आराधना से तेज विकसित होता है। भावों की शुद्धता जीवन को शीर्षस्थ स्थान पर ले जाती है। इन चारों आरावनाओं में जो लीन होता है, वह अपने भीतर छिपे हुए अंतर्धन के खजाने को खोज निकालता है।

दान का भावनात्मक मूल्य

त्याग का प्रतीक होने के कारण दान का भावनात्मक मूल्य विशेष महत्व रखता है। आप सोचते होंगे कि जिनके पास दान देने योग्य वस्तु हो, वही तो दान दे सकता है किन्तु मैं पूछूं कि आप दान देने योग्य क्या समझते हैं? अधिकांश लोगों का खयाल है कि धन दान में दिया जाता है और जिनके पास धन नहीं है, वे दान में क्या दें? मैं कहता हूं कि अगर आवश्यकता के अनुरूप जिसके पास है—अधिक कतई नहीं है, वह जो किंचित्-मात्र का भी त्याग करता है, उसका खरा दान माना जाता है। आवश्यकता से अधिक वाला बहुत ज्यादा दे देता है, फिर भी भावनात्मक दृष्टि से वह किंचित् मात्र दान अधिक मूल्य रखता है।

जिसके पास धन नहीं हो, पर बुद्धि हो, योग्यता हो अथवा अन्य शक्ति हो, उसको भी वह जब लोक-कल्याण में लगा देता है तो वह भी उसका दान ही होता है। धन से तन का और तन से मन का दान अधिकाधिक

ऊंचा होता है और ऐसे दानियों का जो इतिहास में उल्लेख है—वह आप से छिपा हुआ नहीं है। दान देना और दान लेना—इन दोनों प्रक्रियाओं में जब भावना का सर्वोपरि स्थान बन जाता है, तब दान में दिये व लिये जाने वाले पदार्थों अथवा तत्त्वों का मूल्य कम हो जाता है। आवश्यक है कि शुभ भावना दान के साथ संयुक्त बननी चाहिये।

दान के इस महत्त्व को समझ कर जो दान और उसके साथ शील, तप तथा भावना का निष्ठापूर्ण आराधन करता है, उसकी आत्मा अवश्य ही पवित्र बनती है तथा भगवान् के चरणों में अर्पण करने के योग्य बन जाती है।

आन्तरिक जीवन का सिंहावलोकन करें

अन्तर्धन को प्राप्त करने के अभिलाषी साधक को अपने जीवन का सिंहावलोकन करना चाहिये। सिंहावलोकन का अर्थ क्या है? न्याय की दृष्टि से पीछे मुड़ कर देखना और भीतर देखना। असली सिंह सहसा या अनावश्यक रूप से शिकार नहीं करता है। कड़ी भूख लगने पर मस्ती से पीछे देखता है कि पीछे शिकार तो नहीं छूट गया? तब समग्र दृष्टि से उसका जो पीछे देखना होता है, वही सिंहावलोकन कहलाता है। मनुष्य को भी आत्मिक विकास के मार्ग पर ऐसी समग्र दृष्टि से सिंहावलोकन करना चाहिये कि वास्तव में उसने क्या खोया और क्या पाया?

अन्तर्धन का कोष : दर्पणवत्-स्वच्छ आत्मा

दर्पणवत् स्वच्छ आत्मा को अन्तर्धन का कोष माना जाना चाहिये। जो मन में बाहर के धन को पाने की लोलुपता रखे और बाहर से स्वच्छता दिखावे—ऐसा कपटाचारी अशुद्धता से भरा हुआ होता है।

जिनकी आत्मा दर्पणवत् स्वच्छ बन जाती है, जो अपने अन्तर्धन को प्राप्त करके उसके स्वामी बन जाते हैं, उनमें किसी भी संकट का सामना करने की अद्भुत शक्ति विद्यमान होती है। हमको भी यदि भगवान् के चरणों में अपनी आत्मा को अर्पित करने का संकल्प लेना है तो अपने अन्तर्धन को पहिचानने की दिशा में अग्रसर होना चाहिये।

●●●

आकाश के समान अनन्त इच्छाएं



नवम प्रवचन

दिनांक २३ सितम्बर, १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

" मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये……………………"

भगवान् सुमतिनाथ के चरणों में आत्मा के अर्पण का विवेचन चल रहा है। अब कवि का संकेत है कि विविध प्रकार से भ्रमित होने वाली अपनी मति का भी तर्पण कीजिये। आत्मा के समर्पण की भावना के साथ आन्तरिक शक्ति का द्योतन होता है किन्तु मानव की मति कई रूपों में वहती है। इसे मति कहिये, इच्छा, भावना, कामना या और किसी नाम से पुकारिये—इसके अनेक मुंह है, अनेक धाराएं हैं और यह रंग-विरंगे रूपों में इधर से उधर प्रस्फुटित होती रहती है। यह इच्छा किसके लिये इधर से उधर फैल रही है? एक दृष्टि से विचार किया जाये तो मनुष्य के जीवन में जो अतृप्ति भरी हुई है, वही अनेक सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति में तृप्ति को मृगतृष्णा की तरह खोजती हुई यहां-वहां सब ओर उलझती रहती है।

अतृप्ति और वितृष्णा की राह पर चलती हुई यह इच्छा मति की शक्ति के साथ जुड़ी हुई रहती है। मनन मति है और मति की चिन्ता ही कामना की अभिव्यक्ति है। जब मनन के माध्यम से कामना में एक तीव्रता जागृत होती है और यह सोचा जाता है कि इसकी पूर्ति के प्रति सन्तोष और शांति मिले, तब मति बाहर की ओर वाहरी पदार्थों को देखने चल पड़ती है। मति आत्मा की ही शक्ति है और वह वाहर की ओर नेत्रों के माध्यम से देखती है, कानों से बाहर के विषयों को सुनती है एवं इन्द्रियों के जरिये अपना उप-भोग्य ढूंढ़ना चाहती है। इन बाहरी पदार्थों की प्राप्ति के आधार पर उस मति की तृप्ति ढूंढ़ने का प्रयास चलता रहता है।

तृप्ति की भ्रामक दिशाएं

मति सोचती है कि अमुक देखी या सुनी हुई वस्तु को यदि मैं अपने समीप जुटालूं तो मुझे तृप्ति मिल जायगी, फिर मैं तुष्ट होकर जीवन को सुखी और शांतिमय बना लूंगी। इन दृष्टिकोणों से मति की गलत तीव्रता बनती है और वह तृप्ति की भ्रामक दिशाओं में भटकने लगती है।

परन्तु अनुभव बताता है कि इन दिशाओं में भ्रम करने के बाद जब

इच्छित पदार्थों की उपलब्धि भी होती है तब भी तृप्ति प्राप्त नहीं होती। ज्यों-ज्यों इच्छित पदार्थों की उपलब्धि होती जाती है, त्यों-त्यों असन्तोष की ज्वाला अधिक भड़कती जाती है और तृष्णा की तेजी बढ़ती जाती है । उस असन्तोष की अवस्था में मति अन्य-अन्य पदार्थों की उपलब्धि में दौड़ती है, किन्तु यह क्रम जैसे मिटता ही नहीं है। असन्तोष, प्रयास, प्राप्ति और फिर असन्तोष-यह सिलसिला प्रत्येक सुषुप्त आत्मा की मति में चलता है। ऐसी आत्मा चाहे छोटे शरीर में हो या बड़े शरीर में—मानव शरीर में हो या अन्य किसी भी प्राणी के शरीर में—आज देखें तो लगता है कि उस आत्मा में असन्तोष की आग जल रही है, जिसकी पूर्ति नहीं होने से वह जन्म, जरा और मृत्यु के चक्करों में भटक रही है । जन्म के समय भी अतृप्ति उसके सामने मुंह खोले खड़ी रहती है तो मृत्यु पर्यन्त वह तृप्त नहीं होती ।

अतृप्ति का यह जीवन पर्यन्त क्रम

जीवन में कोई माता की कुक्षि से बाहर आया और उसकी मति जागृत हुई कि मुझे कुछ चाहिये—उसके बिना मैं अतृप्त हूं । उसने अपनी उस कामना को व्यक्त करने के लिये रोना शुरू किया । माता झट समझ जाती है कि बच्चा क्यों रो रहा है ? वह उसे स्तनपान कराती है और बच्चा उसे अपनी तृप्ति का साधन समझ कर स्तन को अपने मुंह में लेता है, किन्तु दूध पीते रहने के बाद भी वह पूर्णतया तृप्त नहीं होता । अतृप्त बन कर वह अपने नेत्र खोलता है और उसकी मति इधर-उधर के दृश्यों को देखने में लगती है। उनसे तृप्ति नहीं होती । फिर उसमें माता-पिता को पहिचानने की शक्ति आती है, तब वह उसके लिये बड़ी जिज्ञासा लेकर चलता है कि इनसे तृप्ति मिल जायेगी । लेकिन फिर उसकी अतृप्ति की आग भड़कती है, वह रोता है। माता-पिता उसके लिये तरह-तरह के खाद्य पदार्थ, खिलौनें और दूसरी तरह की चीजें लाते हैं तथा उसे तृप्त करना चाहते हैं ।

अतृप्ति के घेरों में बच्चा बढ़ता है—स्कूल जाने लायक बनता है—तब यह समझा जाता है कि स्कूली ज्ञान प्राप्त करने से उसकी अतृप्ति मिट जायेगी । वह इन्जीनियर बन जायगा— डॉक्टर बन जायगा, फिर अतृप्ति कहां बचेगी ? फिर वह अर्जन में तृप्ति ढूंढ़ता है, तब भोग में, मगर अतृप्ति का अन्त कहीं भी दिखाई नहीं देता । जीवन गुजर जाता है मगर अतृप्ति नहीं जाती । बाहर के पदार्थों में जो तृप्ति को खोजता है, उसकी अतृप्ति अन्तहीन बन जाती है ।

आकाश सी अनन्त इच्छाएं

शास्त्रकारों ने इसी अवस्था को देख कर कहा है— "इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया" अर्थात्— इच्छाएं आकाश के समान अनन्त होती हैं। आकाश का अन्त पाना मनुष्य के लिये शक्य नहीं, वैसे ही मानव की इच्छाओं को तृप्त कर देना भी शक्य नहीं है। यह ऐसा क्यों है? इस पर आज चिंतन का जितना अभाव है, उतनी ही इच्छाओं की वितृष्णा भीषण होती चली जाती है।

मनुष्य सोचता है कि कामनाओं के झूलों में झूलते हुए जीने का उसे अभ्यास हो गया है— यही उसका जीवन-क्रम बन गया है। फिर भला वह चिन्तन क्या और क्यों करे? अधिक से अधिक वह सोच लेता है कि अतृप्ति की अवस्था में ही वह मर जायगा, उससे ज्यादा क्या? मरने पर तो क्या तृप्ति मिल जायगी? यह तृप्ति का कैसा दृष्टिकोण बन गया है? अन्तहीन इच्छाएं जब मनुष्य के जीवन में उद्दाम बन जाती हैं, तब उसकी मति एक-एक करके उनकी पूर्ति में उलझती—भागती है परन्तु मरुस्थल की मृगतृष्णा की तरह जल कहीं भी दिखाई नहीं देता। एक इच्छा पूरी भी नहीं होती कि कई इच्छाएं मुंह खोले खड़ी हो जाती हैं। सन्तोष का क्षण आवे उससे पहले असन्तोष की ज्वालाएं सुलग उठती हैं। तृप्ति की आशा में अतृप्ति का बोझ ही बढ़ता रहता है। इसे ही संसार कहते हैं, जहां आकाश के समान अनन्त इच्छाएं सदा मनुष्य की मति को दहलाती रहती हैं, मगर सारी भाग-दौड़ के बाद भी उस मति के हाथ सारपूर्ण कुछ लगता नहीं।

मति 'कु' से 'सु' की ओर बढ़े

इसीलिये प्रार्थना की पंक्तियों में संकेत दिया गया है कि ऐसी कुमति का तर्पण करें और भगवान् सुमतिनाथ से सुमति की प्रेरणा लें। मति 'कु' से 'सु' की ओर बढ़े तो यह इच्छाओं की वितृष्णा भी आत्म-नियंत्रण में आती जायगी और संयमाराधन से तृप्ति का तट निकट पहुंचता जायगा। इस कारण प्रार्थना के गूढ़ार्थ में मति के तर्पण को ढूंढ़ना है। मति में इस प्रकार का यह लगाव विचित्र ढंग से क्यों बना हुआ है?

आध्यात्मिक दृष्टि से यदि इसका आप अनुसंधान करेंगे तो ज्ञात होगा कि यह जो मति है, वह सुमतिनाथ के चरणों में चढ़ने लायक नहीं है। यह मति सुमति नहीं है—कुमति बनी हुई है। यह विपरीत मति है और इस विपरीतता के कारण ही अनन्त-अनन्त इच्छाओं का यह सागर और तृष्णाओं

सुमति का ठेका उच्च जाति वालों ने ही ले रखा है। सुमति का प्रभाव जिसमें होता है, वह मनुष्य छोटी–बड़ी जाति की दृष्टि से चाहे कैसा भी हो—इस से उसके गुणों में कोई अन्तर नहीं आता। सुमति आत्मा का गुण है। इसे कोई भी अपनी जागृति और उन्नति से प्राप्त कर सकता है। जाति कभी इस में बाधक नहीं होती। वह चमार पचास रुपयों के नोटों को जब लौटा देता है तो वह मन में एक प्रकार से तुष्टि का अनुभव करता है।

यह एक छोटा–सा दृष्टान्त मैंने आपके सामने रखा है जिस पर आप चिन्तन करें एवं सुमति के महत्व को समझें। सुमति को अपने मन में स्थान दीजिये। तब आप अनुभव करेंगे कि आपकी इच्छाए समाप्त होती जा रही हैं और आप एक अनुपम आत्मिक आनन्द का रसास्वादन करने लगे हैं। दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती इन सारी इच्छाओं पर अंकुश लगाने के लिये उद्यम करना होगा और वह उद्यम है कि आप अपनी इच्छाओं का भगवान् सुमतिनाथ के चरणों में तर्पण कर दें। फिर देखें कि आपके भीतर कितना प्रकाश प्रकट होता है और आपकी सुमति कितनी निर्मलतर बनती जाती है।

महातृष्णा का वर्तमान साम्राज्य

आज संसार में देखा जाय तो तृष्णा और इच्छा की दृष्टि से अराजकता सी फैली हुई है। भौतिक पदार्थों के लिये चारों ओर असन्तोष व्याप्त है। अधिकांशतः लोग अपनी ही इच्छा पूर्ति की ओर ध्यान देते हैं, उसी के लिये खरा–खोटा सब कुछ करने से नहीं हिचकते। स्वार्थ की ऐसी क्षुद्र दशा में सहयोग तथा सहानुभूति के द्वार स्वतः ही बन्द हो जाते हैं। जिसने अपने जीवन में इच्छाओं की गुलामी स्वीकार कर ली— स्वार्थ को सिर पर चढ़ा लिया तो वहां से मानवता का अनुभाव मन्द पड़ने लग जाता है।

जब स्वार्थ की ऐसी क्षुद्रता समाज के व्यापक क्षेत्र में विस्तृत होने लगती है तो एक नये ही प्रकार का न्याय चलता है जिसे आज की आर्थिक भाषा में 'मत्स्य न्याय' कहा जाता है। इसका अर्थ है कि बड़ा मच्छ छोटे मच्छ को खाता रहता है। समाज में जिसके पास भौतिक पदार्थों अथवा अधिकारों की अधिक शक्ति होती है, वह अपने से कम शक्ति वालों का शोषण करता रहता है और इस प्रकार चोटी पर जाकर कुछ लोग सारे समाज पर अपना नियंत्रण कर लेते हैं तथा उसका संचालन अपनी स्वार्थ–पूर्ति की दृष्टि से करने लग जाते हैं। ऐसा 'मत्स्य न्याय' जब प्रबल बनता है तो सम्पन्न एवं अभावग्रस्त—दोनों वर्ग अपनी नैतिकता से हाथ धोते जाते हैं, क्योंकि एक वर्ग शक्ति के अभिमान में तो दूसरा वर्ग अशक्ति की विवशता में अनैतिकता के

मार्ग पर आगे बढ़ता है और इस तरह सारे समाज में मानवीय गुणों का ह्रास होने लगता है।

'मत्स्य न्याय' की ऐसी दुर्दशा आज चारों ओर छाई हुई दिखाई देती है और इसे ही महातृष्णा का साम्राज्य कहा जा सकता है। यह महातृष्णा की स्थिति कुमति के विकृत रूप की परिचायिका है।

सुमति से सम्पत्ति : कुमति से विपत्ति

कुमति के इन वितृष्णा-भरे घेरों से निकलने का यदि अपना संकल्प सुदृढ़ बनाना है तो श्री सुमतिनाथ प्रभु के चरणों में प्रार्थना करें कि कुमति का तर्पण होकर सुमति का ग्रहण हो ताकि प्रभु के चरणों में अर्पण करने योग्य यह आत्मा बन सके। भगवान् से प्रार्थना करनी है, याचना नहीं। याचना अकर्मण्यता की स्थिति बताती है तो प्रार्थना पराक्रम और पुरुषार्थ की प्रतीक होती है। प्रार्थना करने वाला सीधी प्राप्ति नहीं चाहता और न भगवान् किसी को कुछ देते-लेते हैं। इसलिये प्रार्थना से पराक्रम एव पुरुषार्थ जगा कर साधक साधना में तल्लीन होता है तथा उसी के बल पर आत्मिक उन्नति की ऊंचाइयों पर चढ़ता है।

किन्तु प्रार्थना से ऐसी शक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब कुमति को छोड़ कर अपने जीवन में सुमति रमा ली जाय। सुमति की प्रेरणा से ही प्रार्थना सफल बन सकती है, क्योंकि वही मनुष्य को आकाश के समान अनन्त इच्छाओं के जाल-जंजाल से मुक्ति दिलाती है। तभी कहा है—

जहां सुमति तहं सम्पति नाना।
जहां कुमति तहं विपति निदाना॥

जीवन के चिन्तन और आचरण में यदि सुमति प्रवेश कर जायगी तो वहां फिर सम्पत्ति की कामना नहीं रहेगी— भले ही सम्पत्ति का अम्बार लग जाय क्योंकि सुमति से जो आत्मिक सम्पत्ति मिलेगी उसकी तुलना में भौतिक सम्पत्ति सर्वथा निस्सार लगने लगेगी। जहां सुमति है, वहां सन्तोष है और जहां सन्तोष है, वहां श्रेष्ठ जीवन सन्तुलन स्वतः पैदा हो जाता है। इसके विपरीत कुमति भटकाती है और सुख और शांति के समीप तो कभी ले जाती ही नहीं है। कुमति से आत्मिक उपलब्धियों का तो प्रश्न ही नहीं, किन्तु भौतिक प्राप्तियां भी अधिकतर दुर्लभ बनी रहती हैं। जहां कुमति है, वहां तो नाना प्रकार की विपत्तियों का ही आगमन होता है।

इच्छाओं की निकृष्ट दासता

कुमति के वशीभूत होकर मनुष्य जब अपनी इच्छाओं और वासनाओं की निकृष्ट दासता स्वीकार कर लेता है तब उसका—अपनी आत्मा का स्वभाव विभाव में विकृत बन जाता है।

आकाश के समान इच्छाएं अनन्त अवश्य होती हैं किन्तु आत्मा की आन्तरिक शक्ति उससे भी अधिक अखूट होती है। वह शक्ति जागृत तभी होती है जब इच्छाएं आपको नहीं चलावें बल्कि आप अपनी इच्छाओं को चलाओ—इच्छाओं के आप स्वामी बनो। तब इच्छाएं आपका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेंगी—आपकी आत्मिक उन्नति में बाधाएं नहीं डाल सकेंगी। सुमति एवं संयम के तेज के आगे वे इच्छाएं सूखे पत्तों की तरह खुद ही झर जायंगी। आवश्यकता है कि आप ऐसा स्वामित्व ग्रहण करें।



गुणमूलक जीवन का निर्माण



दशम प्रवचन

दिनांक २४ सितम्बर, १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

"दर्पण जेम अविकार रे ज्ञानी………………"

सुमतिनाथ भगवान् की प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण परमात्मा के मंगलाचरण के रूप में चल रहा है। प्रभु की मंगलमय याद करना नितान्त आवश्यक है क्योंकि उनकी बदौलत ही आज के अंधकारमय संसार में प्रकाश का मार्ग दिखाई देता है। यदि वीतराग देव ने यह आध्यात्मिक प्रकाश लोक और अलोक के स्वरूप के साथ प्रदान नहीं किया होता तो आप भी दूसरों की तरह अंधेरी गलियों में ही भटकते। प्रभु ने जिस गुणमूलक जीवन के निर्माण की दिशा बताई है, वही सच्ची दिशा है, जिस ओर बढ़ कर मनुष्य प्रकाश की किरणें पा सकता है।

आज इस विचित्र संसार में विचित्र मनुष्यों के मस्तिष्कों से विचित्र कल्पनाओं एवं विचारों का इधर से उधर प्रसार हो रहा है। इन कल्पनाओं एवं विचारों के अन्दर वास्तविक शांति का संकेत नहीं है। ये विचार बहुसम्मत भी नहीं हैं। इन विचारों में न मन का सन्तोष है और न आत्मा की तृप्ति। गहराई में उतरें तो ये बुद्धि को भी सन्तुष्ट नहीं करते हैं। यद्यपि बुद्धि का फैलाव तीव्र गति से बढ़ रहा है, लेकिन स्वयं इस बुद्धि में जो अभाव बना हुआ है, उसका ध्यान स्वयं बुद्धि को नहीं हो रहा है। बुद्धि का यह अभाव है, दिशा सूचक ज्ञान की कमी—जिसके बिना गंतव्य स्थान तक नहीं पहुंचा जा सकता है।

बुद्धि यदि इसी आध्यात्मिक प्रकाश को हृदय में उतार ले और उसके उजाले में सही रास्ते पर आगे बढ़े—तभी चरम सीमा की उत्कृष्ट शांति तक भी पहुंचा जा सकता है। उस सही दिशा एवं सही रास्ते का निर्देश देने के लिये ही परमात्मा की स्तुति के माध्यम से गुण-मूलक जीवन निर्माण के शास्त्रीय दृष्टिकोण को यहां समझने का प्रयास करें।

तीन तरह की आत्माओं का स्वरूप

इस प्रार्थना में तीन तरह की आत्माओं के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। आत्मा के ये तीन स्वरूप हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा। बहिरात्मा का स्वरूप बाहरी दृश्यों के साथ है। दिखाई देने वाले

पदार्थों के साथ वाहरी सुखों की आकांक्षा है। यह आकांक्षा वुद्धि की निर्मलता को धूमिल करने तथा इन्सान की वास्तविक इन्सानियत को हैवानियत में वदलने वाली है। उसी वहिरात्मा के लिये— उलझी हुई आत्मा के लिये सम्बोधन है कि भगवान् के चरणों में अर्पित होकर अपने वाहरी आवरण को धो डालें। वाहरी मैल अगर धुल गया तो आन्तरिक स्वच्छता उभर कर आ जायगी। वाहरी रौनक कितनी ही जोरदार क्यों न दिखाई देती हो, किन्तु अगर उसका अन्दर का स्वरूप मैला हो तो वह वाहरी रौनक इन्सान के लिये कभी भी सुखदाई नहीं हो सकती है।

वाहर की साज-सज्जा कृत्रिमता से की जा सकती है किन्तु आन्तरिक स्वच्छता मन के संयम एवं वुद्धि की निर्मलता से ही साधी जा सकती है। उसके लिये कृत्रिमता काम नहीं देती। कृत्रिमता से मलिनता में ही वृद्धि होती है। आन्तरिक पवित्रता के लिये तो गुणों की अभिवृद्धि के रूप में ही सारे जीवन का निर्माण करना होता है, जिस निर्माण का मूल भी गुणाधारित ही होना चाहिये।

वहिरात्मा जव वाहर के झूठे प्रलोभनों को छोड़ कर अपने भीतर के स्वरूप में रमण करने लगती है, तव उसका स्वरूप अन्तरात्मा के रूप में ढलने लगता है और जव वह अन्तरात्मा सर्वांग रूप से निर्मल एवं पवित्र वन जाती है तव वही आत्मा परमात्म-स्वरूप ग्रहण कर लेती है। आत्मा के ये तीनों स्वरूप एक प्रकार से गुण-मूलक जीवन-निर्माण के तीन सोपान हैं, जो आत्मा की पतित, उन्नत एवं सर्वोन्नत दशाओं के प्रतीक हैं।

जीवन और फूल का रूपक

शास्त्रकारों ने मानव-जीवन की विविध दशाओं का उल्लेख फूलों के रूपक के साथ किया है। चार प्रकार के फूलों के माध्यम से जीवन की चार दशाओं का अंकन किया गया है। उन फूलों का वर्णन इस प्रकार है—

(१) एक फूल वाहरी दृष्टि से वड़ा मोहक मालूम होता है, आकर्षक दिखाई देता है, लेकिन उसमें वाहर की सम्पन्नता के साथ गन्ध की सम्पन्नता नहीं होती। वह सुगन्ध-शून्य होता है।

(२) दूसरा फूल वाहर से सुन्दर दिखाई नहीं देता– अधिक आकर्षक भी नहीं लगता, फिर भी अन्दर में सुगन्ध से लवालव भरा होता है। चारों ओर उसकी सुगन्ध विखरी पड़ती है।

(३) तीसरा फूल वाहर से भी अति सुन्दर तो भीतर से भी अति सुगन्धित होता है।

(४) चौथा फूल ऐसा होता है, जो न वाहर से सुन्दर और न भीतर सुगन्धित होता है। सुन्दरता और सुगन्ध का अंश भी उसमें नहीं होता।

ऐसे चार तरह के फूलों की उपमा शास्त्रकारों ने मनुष्य-जीवन के साथ दी है। इस विराट् विश्व में इस तरह चार प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं। प्रार्थना में जो तीन प्रकार की आत्माओं का उल्लेख है— इन चारों प्रकारों का भी उसी में समावेश हो जाता है। पहले और चौथे फूल का प्रकार वहिरात्मा में आ जाता है।

बाहर से सुन्दर, भीतर से असुन्दर

मनुष्य बाहर के रूप की दृष्टि से बड़ा सुन्दर है, लेकिन वह सुन्दरता उस कृत्रिम पुष्प की तरह आकर्षक है जो ऊपर से दीखने में मोहक है, पर अन्दर में सुगन्ध-रहित है, वह मनुष्य आत्मिक गुणों से शून्य होगा। उसके अन्दर का स्वरूप आत्मिक गुणों से लगाव के अभाव में एक दूसरे के साथ स्नेह के तंतुओं से जुड़ा हुआ नहीं होगा। परिवार में स्नेह का एक गुण व्याप्त होता है, लेकिन वाहर से सुन्दर और भीतर से असुन्दर उस मनुष्य में वह आत्मीय गुण भी नहीं होता है। परिवार में ही जब उसमें निःस्वार्थ स्नेह के गुण का अभाव होगा तो समाज, राष्ट्र और विश्व के क्षेत्र में उसका स्नेह कैसे फैल सकेगा और कैसे उसके जीवन में "सर्वभूतेषु मैत्री" का सिद्धान्त साकार रूप ग्रहण कर सकेगा ?

पहली नजर में वाहर की सुन्दरता दिखाई देती है और उससे क्षणिक आकर्षण पैदा हो सकता है किन्तु ज्यों ही उसके साथ जरा सा भी सम्पर्क हुआ कि भीतर की असुन्दरता फूट पड़ेगी और वैसी स्थिति में वाहर की सुन्दरता तुरन्त आंखों से ओझल हो जायगी। स्थायी भाव का प्रभाव केवल भीतर की सुन्दरता से होता है। पहले प्रकार के पुष्प के स्वभाव वाला मनुष्य ऊपर से भले आकर्षक लगे, लेकिन वह अन्दर से शून्य होता है और जब कभी उसकी भीतर की असुन्दरता आक्रामक बन कर वाहर फूटती है तो वह राग-द्वेष के एक घिनौने वातावरण की ही रचना करती है।

बाहर से असुन्दर, भीतर से सुन्दर

दूसरे प्रकार के पुष्प की तरह जो मनुष्य वाहर के रूप की अवस्था से तो असुन्दर है किन्तु भीतर से सुन्दर ही सुन्दर है, वह सर्वप्रिय और सर्व-सुखकर होता है। जिसके अन्दर के जीवन में गुणों की समग्र सुगंध भरी हुई होती है, वैसे रूप-शून्य मनुष्य का जहां भी जितना भी सम्पर्क होता है, वह

प्रत्येक आत्मा को सच्ची तृप्ति कराता है । उसकी आन्तरिक सुगंध सामने वाले व्यक्ति और वातावरण पर इस तरह का आकर्षक प्रभाव डालती है कि उसे भी आत्मीय गुणों की सफल प्रेरणा प्राप्त होती है । ऐसे विशिष्ट पुरुष वर्तमान में भी देखे जा सकते हैं तथा प्राचीन काल में भी इनका उल्लेख आता है।

शास्त्रों में वर्णित ऐसे महापुरुषों में से एक हरिकेशी मुनि का नाम है । वे जाति की दृष्टि से आजकल के कृत्रिम जाति–विभाग के अनुसार ओसवाल, अग्रवाल, माहेश्वरी या ब्राह्मण जैसी जाति में उत्पन्न नहीं हुए थे, बल्कि चांडाल जाति में उनका जन्म हुआ था । उसके बाद शारीरिक रूप की दृष्टि से वे अत्यन्त ही अप-रूप एवं लावण्य–रहित थे । उनके वर्ण को तवे के पेंदे की उपमा दी जा सकती थी तो गंध के हिसाब से उनके शरीर से दुर्गन्ध फूटी पड़ती थी । उनकी आकृति अरुचिपूर्ण तथा भीषण थी ।

हरिकेशी मुनि का चारित्र

बालक हरिकेशी बाह्य रूप–गंध की ऐसी स्थिति में सबकी घृणा एवं अरुचि का तो पात्र था ही किन्तु स्वयं भी उस स्थिति से अपनी अन्तरात्मा को कलुषित बना रहा था । पिता किसी प्रकार उसका विवाह करना चाहता था किन्तु जाति की कोई कन्या उसके लिये तैयार नहीं हुई । यहां तक कि उसने भाई बहिन का ही सम्बन्ध जुड़ाना चाहा (जैसा कि उस समय उस जाति में प्रचलित था) तो हरिकेशी की बहिनों ने भी उसकी कुरूपता के कारण आत्मघात करना उचित समझा किन्तु उस सम्बन्ध से इनकार कर दिया ।

एक बार चांडाल जाति की पंचायत लगी हुई थी और अपनी कुरूपता के शोक में डूबा बालक हरिकेशी दूर एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था । उस समय उसने देखा कि पंचायत की जाजम पर एक काला सर्प निकला, जिसे लोगों ने मार डाला । लेकिन कुछ देर बाद वहीं सर्प जाति की एक दुमुही निकली तो सबने उसकी पूजा की । यह देख कर यह बालक सोचने लगा कि ये दोनों जन्तु एक ही जाति के थे किन्तु अपने अन्दर के गुणों के कारण दोनों के साथ अलग–अलग व्यवहार हुआ । जो भीतर के जहर को बाहर फैलाता था, उसे मार डाला गया और जो दुमुही भीतर जहर नहीं रखती थी, उसकी पूजा की गई । उसकी अन्तरात्मा में एक नई जागृति ने जन्म लिया कि बाहर की असुन्दरता के बावजूद अन्दर की सुन्दरता से सबको प्रभावित किया जा सकता है । हरिकेशी ने सोचा कि मेरी बाहरी कुरूपता को देख कर लोग मेरा तिरस्कार कर रहे हैं, किन्तु यदि मैं अपने आन्तिरिक जीवन में गुणों की सुगन्ध भर लूं तो मेरे जीवन का नक्शा बदल सकता है । यह सोचते–

सोचते उन्हें जाति-स्मरण ज्ञान हो आया अर्थात् उन्हें अपना पूर्व-भव ज्ञात हो गया, जिसके अनुसार वे जान सके कि इस भव में ऐसा अपरूप उन्हें क्यों मिला?

तब दृढ़ संकल्पी बन कर हरिकेशी ने मुनि-व्रत अंगीकार किया एवं कठोर तपस्या के द्वारा आत्मा को साधनारत बना कर अपने जीवन को आध्यात्मिक सुगन्ध से भर लिया—इस चारित्र का काफी विशद वर्णन है। मुनि हरिकेशी सिद्ध हो गये—आज सभी उनको नमस्कार करते हैं—'णमो सिद्धाणं' कहते हैं। वे बाहर से असुन्दर होते हुए भी 'सुन्दरम्' के श्रेष्ठ स्वरूप को प्राप्त हो गये—यही भीतरी सुन्दरता की विशेषता है।

ऐसे फूलों की संख्या कम क्यों?

आज कई लोग सोचते हैं कि जैनों की संख्या कम होती जा रही है। पहली बात तो यह जान लें कि जैन शब्द जातिवाचक नहीं है, गुणवाचक है। जो अपने आत्म-शत्रुओं को परास्त करके अपने जीवन को सर्वविजेता बना लेते हैं, वे 'जिन' कहलाते हैं और उनके अनुयायियों को 'जैन' कहा जाता है। जैन गुण-सम्पन्न होना चाहिये किन्तु आज इस बात के कई बार विपरीत दृश्य सामने आते हैं। जो ऊंचे कुल में जन्म लेने वाले हैं, वे शास्त्र श्रवण में अपनी तत्परता भी दिखाते हैं, किन्तु अधिकतर वे ऊपर की सजावट के कार्यों में तल्लीन रहते हैं और आन्तरिक गुणवृद्धि की दृष्टि से उनका चिंतन महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। क्या ऐसी स्थिति पहले प्रकार के फूल की तरह नहीं हो जाती है? फिर जैनों की संख्या बढ़े—इसके पीछे कितने योगदान की जरूरत है, जो आपके स्वरूप को सुधारे एवं उन लोगों को जैनत्व की चेतना भी प्रदान करे, जिन्हें अपने आत्मिक गुणों को उन्नत बनाने की सफल प्रेरणा दी जा सकती है। यदि ऐसा योगदान आप लोगों की तरफ से सशक्त रूप में आता है तो ऐसे फूलों की संख्या बढ़ सकती है जो ऊपर से सुन्दर हों या न हों किन्तु जिनके भीतर की सुन्दरता दमकने लगी हो। सन्त लोग अपनी मर्यादा में ऐसा प्रयास करते हैं किन्तु उन प्रयासों को बराबर सम्हालने पर ही गुण-सूचक जीवन-निर्माण की दिशा को बल दिया जा सकता है।

धर्मपाल समाज का जन्म

इस दिशा में सन्तों के प्रयास की दृष्टि से मैं यह बात सामने रख रहा हूं कि जब मैं मालव प्रदेश में विहार कर रहा था, तब वहां की हरिजन जातियों में बलाई जाति के कई लोग मेरे पास आये और कहने लगे कि हम अपने जीवन को ऊंचा बनाना चाहते हैं किन्तु कई लोग प्रलोभन आदि से विधर्मी बन रहे हैं, अतः हमें सहारे की जरूरत है। मैंने कहा—तुम कुछ उठो

और अगर तुम स्वयं उठते हो तो सहारा देने वाले भी मिल सकते हैं। फिर उनके कई मुखियों ने दारू-मांस आदि दुर्व्यसनों का त्याग किया एवं बताया कि एक गांव में ७० गांवों के बलाइयों के पंच एकत्रित होने वाले हैं। वहां सन्तों के पहुंचने के लिए उन्होंने आग्रह किया और कहा कि इससे बहुत भला हो सकेगा। हम वहां पहुंचे। भगवान् धर्मनाथ की प्रार्थना करने के बाद उनको बोध दिया। उनके अन्दर सुगन्ध दबी हुई थी। यद्यपि ऊपर की दृष्टि से वे रूपवान् नहीं थे अर्थात् आप सरीखी पोशाकें सजाये हुए नहीं थे, लेकिन उनके भीतर के गुणों के संस्कार उभर कर बाहर आये। वहां ७० गांवों के लोगों ने दारू-मांस आदि दुर्व्यसनों का त्याग किया।

उन्होंने कहा—महाराज, ये सब त्याग लेने के बाद हम चाहते हैं कि हम अन्य असंस्कारी हरिजनों के पहले जैसे सम्पर्क में न रहें, अतः हमारे समाज को आप नया रूप दीजिये। मैंने उनसे कहा—अभी धर्मनाथ प्रभु की प्रर्थना की गई है और आपने उनके धर्म पर चलने का निर्णय लिया है। इस दृष्टि से आपके समाज का नामकरण धर्मपाल जैन किया जा सकता है। इस प्रकार आन्तरिक गुणों की सुगंध जब बाहर फैली तो इस धर्मपाल समाज का जन्म हुआ।

सन्त-मर्यादा के अनुसार इस शुभ कार्य का प्रारंभ हुआ। इसके बाद इन नये जैनों के जीवन को कैसे सम्हाला जाता है—इस ओर सभी दृष्टि-बिन्दुओं से देखने का काम आपका है। उस क्षेत्र में इन लोगों की संख्या लाखों की है। वहां अब शिक्षण संस्थाएं भी खोली गई हैं तथा संस्कार निर्माण का कार्य चल रहा है। धर्मपाल धूलजी भाई ने जिस दृढ़ता का परिचय दिया, वह सराहनीय है। आज जब कि ऊंचे कुल वाले दारू-मांस आदि के दुर्व्यसनों में फंसते जा रहे हैं, वहां आपकी दृष्टि से नीच कुल के कहलाने वाले ये लोग दुर्व्यसनों से अपने को ऊपर उठा रहे हैं, इसे गुण-सम्पन्नता ही कहेंगे।

जाति ऊंची परन्तु संस्कार कैसे ?

आप अपने आपको ऊंची जाति तथा उत्तम कुल वाले मानते हैं, परंतु क्या आपने अपने यहां अच्छी-बुरी बातों की खोज की है ? क्या आप लोगों में कहीं कोई सब्जी खाने से मांस भक्षण की ओर तो नहीं बढ़ रहे हैं ? क्या ऐसे अश्लील उपन्यास आपके युवक व छात्र लोग नहीं पढ़ते, सिनेमा नहीं देखते तथा जुआ नहीं खेलते, जिनसे सारे जीवन का नक्शा ही उल्टा हो जाता है ? आप नवयुवकों के बिगाड़ का दोष शिक्षा-पद्धति को देते हैं—वह भी सही हो सकता है लेकिन क्या इस दोष के भागी आप स्वयं नहीं हैं, जिन्होंने उन्हें उनके बचपन में संस्कार दिये हैं ? इस दृष्टि से क्या आपने आत्म-निरीक्षण

किया है कि आपके आचार-विचार कैसे हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर आप खुद ही खोजिये और अपने समग्र जीवन में अब भी स्वच्छता एवं सुगंध का समावेश कीजिये ताकि बाहर के रूप के साथ भीतर के स्वरूप का भी समुचित विकास हो सके ।

जाति और कुल की उच्चता-मात्र से जीवन की उच्चता नहीं बनती है, जब तक कि उस ऊंचाई तक संस्कारों का श्रेष्ठ निर्माण न हो । आज मेरे भाई और बहिनें आध्यात्मिक जीवन को ग्रहण करने में अशक्तता का अनुभव करते हैं, उसका कारण यह है कि उनके मस्तिष्क बाहरी सुन्दरता की साज-सज्जा में उलझे हुए हैं तथा आन्तरिक सुन्दरता की तरफ उनका लक्ष्य नहीं है। जैसे वायु रोग वाला आवश्यक भोजन भी पूरा नहीं कर पाता है, उसी प्रकार बाहरी सुन्दरता-मात्र के रोगी इस आध्यात्मिक भोजन की आवश्यक खुराक भी ग्रहण नहीं कर पाते हैं । वीतराग वाणी का मार्ग-दर्शन एवं तीर्थंकरों के संस्कार पाकर भी यदि आप लोग भीतर की सुगंध को प्रस्फुटित नहीं कर सकते हैं तो यह आपकी अतीव दुर्बलता ही कहलायेगी ।

जो बाहर से असुन्दर हैं, वे तो भीतर की सुन्दरता को प्राप्त करने के लिये आगे बढ़ रहे हैं, उन्हें उचित सहयोग की आवश्यकता है किन्तु आप लोग जो अधिकांशतः बाहर से सुन्दर हैं तथा आन्तरिक सुन्दरता की प्राप्ति के सहज साधन आप को उपलब्ध हैं, फिर भी आप अपने आचार-विचार में पवित्रता लाने का सच्चा प्रयास न करें तो आपका यह गन्धहीन रूप किस काम का ? इस बहिरात्मा के रूपक से आपको निकलकर अन्तरात्मा में प्रवेश करना चाहिये ताकि ऊंचे संस्कारों के साथ ऊंची जाति व कुल की गरिमा बनाई जा सके ।

बाहर भी सुन्दर, भीतर भी सुन्दर

तीसरा सर्वश्रेष्ठ प्रकार उस पुष्प का कहा गया है, जो बाहर से भी मोहक हो तथा भीतरी सुगंध से भी भरपूर हो । रूप एवं गंध सम्पन्न ऐसे पुरुष अपने आन्तरिक उन्नायक स्वरूप के कारण अपने बाहर के रूप को भी सार्थक बनाते हैं । ऐसे शास्त्रीय चारित्रों में अनाथी मुनि का उल्लेख आता है।

परिपूर्ण भौतिक-सम्पन्नता भी जब उनके रोग को शान्त नहीं कर सकी तो उन्होंने अपने देह-सौन्दर्य सहित बाहर की सारी उपलब्धियों को कतई निरर्थक मान कर अपने को अनाथ समझा तथा रोग शांति के बाद मुनिधर्म अंगीकार करने का संकल्प लिया । फिर वे अनाथी मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए । मगध सम्राट श्रेणिक ने जब उद्यान में ध्यानस्थ अनाथी मुनि को पहली

वार देखा तो उनकी अद्भुत शारीरिक कान्ति एवं आत्मिक प्रतिभा को देख कर वे आश्चर्यान्वित हो उठे। उनके मुंह से निकला—अहो, कैसा वर्ण है! कैसा रूप है! कितनी सौम्यता है तथा योग में ये किस प्रकार निष्णात हैं! रूप के साथ जब गुण का संयोग बैठता है, तब वह रूप भी अति आकर्षक बन जाता है। श्रेणिक ने जब अनाथी मुनि के साथ चर्चा की, जिसका विस्तृत वर्णन अनाथ-सनाथ के रूप में आया है, तब तो उनके त्यागमय गुणों से वे अत्यधिक प्रभावित हुए। उस गुण-सम्पन्न रूप को देख कर राजा का अपने रूप का अभिमान चूर-चूर हो गया। गुणों की सुगंध सचमुच ही समग्र वातावरण को रम्य बना देती है। वाहर भी सुन्दर और भीतर भी सुन्दर—यह सौन्दर्य की उच्चश्रेणी बन जाती है। ऐसे पुरुषों का प्रबोध भी सार्थक बनता है। अनाथी मुनि की आत्मा तो श्री सुमतिनाथ प्रभु की सेवा में अर्पणा के योग्य थी ही किन्तु उनके प्रबोध से महाराज श्रेणिक भी अपने आत्मार्पण के लिये तत्पर बन गये।

सुन्दरता न बाहर, न भीतर

चौथी श्रेणी के पुरुष वे हैं, जो न रूप-सम्पन्न हैं और न गंध-संपन्न। ऐसे पुरुषों के नमूनों को ढूंढ़ने की जरूरत नहीं पड़ेगी। यहां-वहां और सभी जगह वे मिल जायेंगे। आन्तरिक कुरूपता की स्थिति में उनका वाहर का अपरूप भी अधिक भयंकर बन जाता है, अन्यथा आन्तरिक गुण-सम्पन्नता की स्थिति में वाहर का अपरूप भी आत्मिक-सौन्दर्य से भरपूर बन कर प्रभावशाली हो जाता है। वास्तव में भीतरी सुन्दरता ही वाहरी सुन्दरता को प्रभावशाली बनाती है।

जीवन के इन प्रकारों पर हकीकत में चिन्तन करने की आवश्यकता चौथी श्रेणी के लोगों के लिये सब से ज्यादा है। वाहर की कुरूपता से वे भौतिक दृष्टि से दुःखी होते हैं तो दूसरी ओर वे आत्मिक गुणों के अभाव में अज्ञानवश भीतरी सौन्दर्य को चमकाने में भी प्रयासरत नहीं बनते हैं। अतः यदि वे जीवन के इन प्रकारों पर गहराई से विचार करें तो उनके जीवन को यह नई जागृति नया रूप प्रदान कर सकती है।

आपकी श्रेणी की जांच आप स्वयं करें

फूलों के इस रूपक से आप ही अपने जीवन को सामने रख कर जांच करें कि आप किस श्रेणी में हैं? आपका जीवन किस प्रकार के फूल के समान है? वर्तमान परिस्थितियों में अपनी आत्मा की गतिविधियों पर

तुलनात्मक चिन्तन करें और सही तौर पर अपनी श्रेणी को समझकर अपने आपको जागृत बनावें तथा गुण-सूचक जीवन-निर्माण की दिशा में इस तरह अग्रसर हों कि आप अपने जीवन के साथ अपनी सन्तान एवं अन्य व्यापक क्षेत्रों में गुण-मूलक प्रतिष्ठा को सर्वोच्च स्थान दें ।

गुणाधारित जीवन का निर्माण

वहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा के रूप में आत्मा के जो ये सोपान बताये गये हैं, वे गुणाधारित जीवन का ही स्वरूप स्पष्ट करते हैं । आत्मिक गुणों की सुगन्ध ज्यों-ज्यों भरपूर बनती है त्यों-त्यों वहिरात्मा वाहर के सारे व्यामोहों को छोड़ कर अन्तरात्मा के निर्मल प्रकाश में रमण करना प्रारम्भ करती है तथा आत्मिक गुणों की चरम उन्नति एवं समृद्धि उस अन्तरात्मा को परमात्मा का स्वरूप प्रदान करती है । गुण-मूलक जीवन के निर्माण की यही दिशा होती है, जिसकी ओर वढ़ कर मनुष्य अपने जीवन में सर्वोच्च सफलता प्राप्त कर सकता है ।



सुख दो, सुख पाओ !





इग्यारहवां प्रवचन

दिनांक ७ अक्टूबर, १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

"पद्म प्रभु जिन तुज मुज आंतरू रे............"

परमात्मा की प्रार्थना से आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, क्योंकि भावोद्रेक से कर्मठता की गति तेज होती है । ये पंक्तियां भी आन्तरिक भावों को जगा रही हैं कि कर्म विपाक की दृष्टि से परमात्मा और संसारी आत्मा के बीच में जो अन्तर है, उसे दूर किया जाय । विचार करें कि क्या यह अन्तर प्रार्थना के माध्यम से दूर हो सकेगा ? क्या संसारी आत्मा का कर्म मैल धुल जायगा ? यदि प्रार्थना करने मात्र से आत्मा कर्मों से रहित बन जाती हो तो यह मार्ग बड़ा सुगम हो जायगा, परन्तु प्रार्थना का उच्चारण मात्र अन्तिम ध्येय तक नहीं पहुंचा सकता है ।

अन्तःकरण पूर्वक यदि परमात्मा का स्मरण हो और हृदय में परमात्मा का निवास बन जाय तो कर्म भार का अन्तर भी मिटाया जा सकता है । आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सकेत दिया है कि प्रार्थना जब वचन से हृदय की आन्तरिकता में पहुंचती है तो परमात्म-स्वरूप का वहां अवस्थान बन सकता है । इस तरह यदि चैतन्य जाग जाय तो निविड़तम कर्म बंध भी शिथिल हो सकते हैं । इसको सुबोध बनाने के लिए उन्होंने चन्दन, सर्प और मयूर का रूपक दिया है । चन्दन वृक्ष की सुगंध से बड़े-बड़े सर्प उससे लिपटे रहते हैं, जो हटाए नहीं हटते हैं, किन्तु मयूर की एक आवाज मात्र सुनकर वे सर्प इधर-उधर तितर-वितर हो जाते हैं । सर्पों के जटिल बन्धन एकदम शिथिल हो जाते हैं ।

इस रूपक को अब संसारी आत्मा के साथ घटित कीजिये । यह आत्मा भी अपनी अनन्त शक्तियों एवं अनन्त गुणों के कारण चन्दन वृक्ष की तरह सुवासित है, किन्तु इसके साथ भी घाती और अघाती कर्मरूप सर्प लिपट गये हैं । ये कर्म इस तरह संलग्न हैं कि हटाए नहीं हटते हैं । तो अब इन सर्पों को कोई हटा सकती है तो एक मयूर की आवाज । यह मयूर की आवाज क्या है ? यह मयूर की आवाज प्रभु को हृदयवर्ती बनाने की प्रार्थना ही तो है । प्रभु हृदय में बस जाय तो आठों कर्मों के निविड़ कर्म-बंधन भी शिथिल होते चले जायेंगे और आत्मा की स्वाभाविक सुवास चहुँ ओर प्रसारित होने लगेगी ।

प्रभु का हृदयवर्ती होना

प्रभु की प्रार्थना का उच्चारण तो सहज है, परन्तु उन्हें हृदयवर्ती बनाना कठिन है । कल्पना करें कि प्रभु हृदयवर्ती कैसे बन सकेंगे ?

एक ओर हम प्रभु को हृदयवर्ती बनाने की अभिलाषा रखते हैं और दूसरी ओर सैद्धांतिक स्थिति यह है कि सिद्ध प्रभु अपनी सिद्ध अवस्था में अविचल होते हैं—वे विचलित नहीं होते हैं । वहां से एक इंच के अनन्तवें भाग भी उन्हें कोई दूर खिसकाना चाहे तो कतई नहीं खिसका सकता है तो ऐसे सिद्ध परमात्मा चाहे वे पद्मप्रभु हों या अनन्त भगवान्, मानव के हृदयवर्ती कैसे हो सकते हैं ? मनुष्य के हृदय में वे निवास करें—इसका स्थूल अर्थ तो यही होगा कि वे अपने सिद्ध स्थल को छोड़ कर मानव के हृदय में चले आवें । किन्तु इस स्थूल अर्थ के अनुसार न तो भूतकाल में ऐसा हुआ है, न वर्तमान में हो रहा है तथा न भविष्यकाल में कभी भी ऐसा संभव होगा । उनको वहां से हटाकर अपने हृदय में लाने के लिए साधारण मनुष्य की शक्ति को छोड़ कर स्वयं तीर्थङ्कर भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति को काम में ले लें, तब भी ऐसा बनाव नहीं बन सकता है ।

प्रश्न है, तब कवि के इस कथन का क्या अर्थ है कि हे प्रभु, आप मेरे हृदयवर्ती बन जावें ? क्या यह केवल वाचिक उच्चारण अथवा जिह्वा का व्यापार मात्र तो नहीं है ? परन्तु ऐसी बात नहीं है । इस कथन पर चिन्तन करने की आवश्यकता है । प्रार्थना की इस पंक्ति के बाह्य अर्थ को नहीं पकड़ना है, बल्कि इसके गूढ़ार्थ में प्रवेश करना चाहिए । जब परम्परा के विचार से ही प्रार्थना की जाती है, तब उसका बाह्य उच्चारण मात्र बन पड़ता है, किन्तु अन्तःकरण-पूर्वक जब प्रार्थना की जाती है तो उसके गूढ़ार्थ का प्रकाश प्रकट होता है । प्रभु का हृदयवर्ती होना—यह गूढ़ार्थ की बात है ।

परमात्मा स्वयं अपनी आत्मा है ।

प्रार्थना की पंक्तियां प्रार्थना के गूढ़ार्थ के माध्यम से ही स्पष्ट हो सकती हैं । प्रभु के हृदयवर्ती होने का अर्थ है कि जो सिद्ध प्रभु हैं, उनका आदर्श हमारे समक्ष हो तो उनके तुल्य हमारी अपनी जो आत्मा है—चेतना है सत्, चित् और आनन्द रूपी चेतना—वह जागृत बनेगी । वह इसी शरीर पिंड में है, किन्तु कर्मों का मैल लग जाने से मलिन बनी हुई है और इसी कारण उसका चैतन्य दब गया है—सुषुप्त हो गया है । यदि सिद्ध प्रभु की प्रार्थना से यह बद्ध प्रभु जरा अंगड़ाई ले ले और प्रबुद्ध बन जाए तो जो इस बद्ध प्रभु का जागरण होगा—सिद्ध प्रभु के तुल्य बनने

की भावना और साधना जो प्रबल बनेगी—वह प्रभु का हृदयवर्ती बनना ही तो हुआ। अब आप समझ गये होंगे कि कौन से प्रभु को हृदयवर्ती बनाना है ? परमात्मा स्वयं अपनी आत्मा ही तो है और प्रार्थना उसकी लौ परमात्मा की ओर लगा देती है तथा लौ लगी आत्मा को ही प्रभु का हृदयवर्ती होना मानिये।

यह समझ लीजिए कि जिन प्रभु को हृदय में बसाने की बात कही गई, वे सिद्ध प्रभु नहीं, बल्कि अपने ही बद्ध प्रभु हैं। ये जब अपने स्वभाव में सन्नद्ध होकर हृदयवर्ती होने लगते हैं तो फिर इनकी बद्ध अवस्था भी शिथिल बनने लगती है तथा इस आत्मा की गति परमात्मस्वरूप की ओर अग्रसर बनने लगती है। इस कारण इसी शरीर पिंड में रहने वाले अपने ही भावी परमात्मा को हृदय में व्याप्त कर लीजिये कि मन, वाणी और कार्य का प्रत्येक रूप उस परमात्मा-आदर्श से ओतप्रोत बन जाय। उनका आदर्श जितना अधिक अपने सामने समुज्ज्वल रूप में मार्गदर्शन करता होगा, उतने ही विकार दूर ही रहेंगे तथा पूर्वार्जित कर्मों का भी क्षयोपशम प्रारंभ हो जायगा। अपनी ही इस आत्मा को परमात्मा मानने के बाद जो विवेक जागृत होगा, वही 'सुख दो, सुख पाओ' की प्रक्रिया को मजबूत बना सकेगा। परमात्म-स्वरूप की लौ लग जाने के बाद वास्तव में सुख देने का विवेक तो प्रत्येक समय बना रहेगा, किन्तु सुख पाने की क्रिया साता वेदनीय कर्म का बंध होने से स्वतः होती रहेगी, उसकी वांछा नहीं की जायगी।

किन्तु मूल समस्या कर्म क्षय की है !

किन्तु आत्मा के परमात्मा बनने की मूल समस्या यह है कि आत्मा की शक्तियों को दबाये बैठे इन कर्मों का क्षय हो जाय। उसी की अपेक्षा से इस आत्मा का परमात्म-स्वरूप रहा हुआ है। अपनी आत्मा से इतर अन्य परमात्मा को हृदय में लाकर बसाने की बात मान ली तो भ्रान्ति हो जायगी। भ्रान्ति से कर्म-बन्धन कमजोर नहीं, मजबूत होते हैं। अतः कर्म-क्षय के ध्येय के लिए वीतराग देव के मार्ग को उसके सत्यार्थ में समझने की आवश्यकता है।

आज अधिकांश भाई-बहिन कल्पना करते हैं कि हम प्रभु को स्मरण करते हैं, उनकी जय बोलते व भक्ति करते हैं तो वे प्रभु यथा-समय आकर हमारे सकटों का मोचन करेंगे और हमें सुख-शांति देंगे। परन्तु उनकी यह भावना सम्यक् ज्ञानपूर्ण नहीं है। यह भावना तो परमुखापेक्षी बना कर निष्क्रिय रखने वाली है, किन्तु परम प्रभु की प्रार्थना जो है, वह अपने चैतन्य को पुरुषार्थ के पथ पर आरूढ़ कराने वाली है क्योंकि चैतन्य की शुद्धता बनाने के लिए

सबसे पहली अपेक्षा पुरुषार्थ को जगाने की ही होती है। पुरुषार्थ जगेगा तो वह पहले अशुद्ध वृत्तियों के परिमार्जन की ओर लगेगा। बिना अशुद्ध वृत्तियों के परिमार्जन के आत्मा की शुद्धता को निखारने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसीलिए मूल समस्या कर्मक्षय की बताई गई है।

आत्मशुद्धि की प्रक्रिया में पहले उस आते हुए कर्म मैल को अवरुद्ध करना पड़ता है, जो प्रति समय अविवेकपूर्ण कार्यों के जरिये आत्मा के साथ लिपटता है। यह पुरुषार्थ का पहला पग होता है। फिर पहले जो कर्म बंधे हुए हैं, उनके उदय में आने पर उनका फल समभाव द्वारा सहन करते हुए उन कर्मों का क्षय करना होता है। पुरुषार्थ के ये दोनों पग जब सन्तुलित गति से बढ़ते जायं तो आत्मा अधिकाधिक शुद्धता की ओर आगे बढ़ती जाती है। परमात्मा का चिन्तन अपनी आत्मा के रूप में करने की यह पूर्वभूमिका होगी। इसी भूमिका पर प्रार्थना के माध्यम से मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार की शांति प्राप्त हो सकेगी। नया मैल जब नहीं आवे और पुराना मैल घुलता जावे तो उससे शांति ही मिलती है।

शरीर और मन की शान्ति के लिए

शरीर और मन की शांति ही आत्म-विकास के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। यदि चिन्तन में विवेक और समभाव तथा कर्मठता में पुरुषार्थ मिश्रित रहे तो यह शांति-लाभ सुलभ हो जाता है। अगर आप शारीरिक वेदना से युक्त हैं—शरीर से सम्बन्धित पीड़ाएं आपको सता रही हैं, उस समय विवेक और समभाव का अभाव है और आपको कहा जाय कि आप एकचित्त से प्रभु की प्रार्थना करो तो शायद ऐसा आप नहीं कर पायेंगे क्योंकि उसके लिए जब मन को लगाने जाते हैं तो वह शरीर की व्याधि की ओर विचलित हो जाता है। व्याधि शांत नहीं होगी, तब तक तल्लीनता से न प्रार्थना होती है और न चिन्तन।

इस कारण पहली जरूरत यह महसूस होती है कि शरीर भी रोग-रहित रहे और मन भी नीरोग हो। "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" इसी लिए कहा गया है कि धर्मसाधना में शरीर की प्राथमिक आवश्यकता होती है तो जितना वह साता और समाधि में रहेगा, साधना कठोरतम बन सकेगी। शरीर की साता होगी तो मन की चंचलता भी रुक सकेगी। एक स्वस्थ शरीर में स्वस्थ चित्त का निवास होता है। स्वस्थ और स्थिर चित्त सदा ही एकाग्रता की ओर बढ़ता है। शरीर और चित्त की नीरोग अवस्थाओं में जब लक्ष्य सामने स्पष्ट होता है तो साधना की गति तीव्र भी होती है तथा एकाग्र

भी । एक पर्वत के शिखर पर पहुंचना हो तथा शारीरिक शक्ति अति क्षीण हो तो निश्चय है कि साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । प्रबल भावना भी कर्मठता के अभाव में प्रतिफलित नहीं बन सकेगी । इस कारण शरीर और मन की स्वस्थता तथा शांति के लिए धरातल तैयार होना साध्य प्राप्ति के लिए अनिवार्य है । यह तभी हो सकता है, जब साता वेदनीय कर्म का बन्ध हो ।

साता वेदनीय कर्म का बंध क्यों ?

साता वेदनीय कर्म की उदय-स्थिति में शरीर और मन की जब समाधि रहती है और उसके साथ आत्मा-परमात्मा का लक्ष्य-लक्षी का सम्बन्ध बनता है तो जीवन की विकास रेखा भी स्पष्ट होने लगती है । उस समय यह कहा जा सकता है कि हमारे अपने ही बद्ध प्रभु हृदयवर्ती हो रहे हैं ।

परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि साता वेदनीय कर्म का उदय कहां से आयेगा ? सुख और साता आकाश से नहीं टपकेंगे या कि किसी जौहरी की दूकान पर नहीं मिलेंगे । उदय तभी होगा जबकि पहले साता वेदनीय कर्म का बंध होगा और यह बंध तदनुकूल व्यवहार एवं आचरण के आधार पर ही संभव है । किन्तु यह सोचना भी जरूरी है कि साता वेदनीय के कर्म बांधने के लिए पुरुषार्थ किस प्रयोजन से किया जाय ? यदि साता वेदनीय के उदय से शरीर स्वस्थ मिला, सुखदायक परिस्थितियां पैदा हुई तो क्या उसमें भोग की प्रवृत्ति जगाई जायगी ? अगर ऐसा है तो कहना पड़ेगा कि लक्ष्य स्पष्ट नहीं है । साता वेदनीय का प्रयोजन आत्मा को परमात्मा बनाने का सत्प्रयास माना जाना चाहिए । जो तेजस्वी चैतन्य शक्ति भीतर निष्क्रिय सी सोई पड़ी है, वह क्रियाशील बने तथा अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँचे—यह लक्ष्य साता वेदनीय कर्म बंध के समय भी सामने रहना चाहिए । साता वेदनीय कर्म का बंध त्याग और विकास के समर्थ अवसर प्राप्त करने के लिए उपयुक्त माना जाना चाहिए और हम सुख देंगे तो सुख पाने का जो ध्येय है, वह ध्येय ऐसा सुख पाने का है, जो सच्चा सुख होता है और निरन्तर अखडित आनन्द देता है ।

साता वेदनीय कर्म के निमित्त

सुख पाने के पहले सबको सब समय में सुख देना—यह साता वेदनीय कर्म का आधारभूत निमित्त माना गया है । सबको सुख अपनी ओर किन वृत्तियों को धारण करके दिया जा सकता है—इसके सम्बन्ध में यह सूत्र—"सर्व भूतवृत्यानुकम्पा दानं……" मार्गदर्शन करता है । सभी प्राणियों पर अनुकम्पा-दया करने का भाव जिस के मन और मस्तिष्क में प्रत्येक समय

वना रहता है, उसके निरन्तर साता वेदनीय कर्म का वंध होता रहता है। भावना पहले जव वलवती होगी तो वचन और कार्य भी उसी दिशा में संचरित होंगे। किसी के कष्ट निवारण में कोई पूरी निष्ठा से कार्य करे और कार्य करने की भावना रखे तो वह सदा उस अनुभाव में विचरण कर रहा है— ऐसा कहा जा सकेगा। कार्य में सफलता मिले या नहीं मिले, यह दूसरी वात है। भावना उसकी पहली शर्त मानी गई है।

अव छद्मस्थ अवस्था में मानसिक सवेदनाओं एवं शारीरिक वेदनाओं के कारण उपयोग की ऐसी दशा नहीं रहती कि साधना में एकाग्र-चित्तता वनी रहे। शरीर यदि वलवान और मनोवल सुदृढ़ हो तो आत्माभिमुखी प्रवृत्ति सुगठित वन सकती है। शास्त्रों में कहा गया है कि यदि एक अन्तर्मुहूर्त (अड़तालीस मिनिट) के लिए भी अत्यधिक उत्कृष्ट एवं समग्र रूप से एकाग्रता वन जाय तो वह अवस्था भावी परिवर्तन के द्वार खोल देती है। वाद में एकाग्रता की न्यूनाधिकता भी आत्मा की उत्थानगामिता को अवरुद्ध नहीं कर सकेगी। इस एकाग्रता को लाने वाले शरीर और मन के वल को प्राप्त करना अनुकम्पा के आधार से ही संभव वनता है। अनुकम्पा करने का निमित्त साता वेदनीय कर्म के वंध का सवल निमित्त होता है।

अनुकम्पा और दया की वृत्ति जागने से स्व-पर दोनों का कल्याण होता है। जो दया करता है, वह अपने सामर्थ्य का सदुपयोग करता है और अपनी वृत्तियों को शुद्ध वनाता है किन्तु जिसके प्रति दया की जाती है, उसके हृदय में भी उपकृत होने से श्रेष्ठ विचारों का प्रवाह उमड़ता है। जिस पर दया करने की आवश्यकता होती है, वह असाता वेदनीय के उदय से पीड़ित होता है तो उस पर दया करने से वह उस पीड़ा से उत्पन्न होने वाले आर्त विकारों से मुक्त वनता है। इस तरह दया करने वाले के साता वेदनीय का वंध होता है तो जिस पर दया की जाती है, उसका कष्ट सहानुभूति एवं हार्दिकता से हल्का पड़ जाने के कारण उसको भी असाता वेदनीय का वंध रुक जाता है। दया की वृत्ति इस प्रकार दोहरा लाभ पहुंचाती है। यही कारण है कि किसी भी शक्ति से निर्वल सदा सवल की अनुकम्पा का पात्र माना गया है।

अनुकम्पा किन-किन पर की जाय ?

एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि अनुकम्पा किन-किन पर की जा सकती है ? क्या अनुकम्पा केवल दीन दुःखियों पर ही की जाय अथवा व्रत-धारियों के प्रति भी क्या अनुकम्पा की जा सकती है ? इस विषय पर श्री

ठाणांग सूत्र में विस्तृत वर्णन आया है, जहां अनुकम्पा को धर्मदान के अन्तर्पेटे में लिया गया है। उसमें जहां साधुवृत्ति का प्रसंग आया, वहां भी यही कहा गया है कि यदि साधु भी वेदना और ग्लानि के अनुभव से कराह रहा है तो वह भी अनुकम्पा का पात्र होता है। उस समय उसकी सेवा में भी आत्मीय कम्पन का अनुभव होना चाहिए। एक साधु दूसरे साधु की—चाहे वह रोगी, तपस्वी या नवदीक्षित हो—जब इसी अनुभाव से सेवा करता है तो वह साधु की साधु के प्रति अनुकम्पा होती है।

गृहस्थ वर्ग भी साधु के प्रति अनुकम्पा कर सकता है किन्तु उसका रूप कुछ भिन्न होगा। यदि एक गृहस्थ की चेतना जागृत है और उसकी साधु में भक्ति है तो वह अपने विवेक और साधु की मर्यादा के अनुरूप साधु की सेवा कर सकता है। यही साधु के प्रति अनुकम्पा का संकेत है। दूसरी ओर गृहस्थ गृहस्थों के प्रति सभी प्रकार की अनुकम्पा दिखा सकता है और उसको दिखानी चाहिए। सभी प्रकार से अभिप्राय श्रेष्ठ लक्ष्य, श्रेष्ठ संकल्प और श्रेष्ठ परिणाम से है। ऐसी अनुकम्पा को एक कर्तव्य का रूप दिया गया है। कल्पना करें कि एक गृहस्थ के पिता रुग्णावस्था में शय्याधीन हो रहे हैं और वेदना से कराह रहे हैं। बारहों महीने पुत्र उनकी निरन्तर सेवा कर रहा है। इसी प्रसंग में संवत्सरी का महापर्व आ जाता है। तब पुत्र सोचता है कि पिता की सेवा का कार्य मैंने चौबीसों घंटे किया है और आज संवत्सरी पर तो मुझे भी अपनी आत्म-शुद्धि का व्रताराधन करना चाहिए। वह यहां तक सोचने लग जाता है कि पिता तो गृहस्थ हैं और उनकी सेवा के सभी कार्य-पाप कार्य हैं और इनमें मैं कब तक पड़ा रहूंगा। ऐसा सोच कर बिना पिता की सुव्यवस्था किये उनको असहाय अवस्था में छोड़ कर यदि वह प्रतिपूर्ण पौषध व्रत ग्रहण करने के लिए भी चला जाता है तो यह सत्य है कि वह परमात्मा को अपना हृदयवर्ती नहीं बना सकता है। कारण, उसके मन में जब अनुकम्पा नहीं है—आत्मीय भावना नहीं है तो उसका हृदयासन परमात्म-स्वरूप के विराजमान होने के लिए उपयुक्त ही कहां बनता है? पिता व्रती है किन्तु असाता वेदनीयकर्म के उदय से पीड़ित है, जिनकी सेवा का एक मात्र दायित्व उस एकाकी पुत्र पर है, तब उसे अनुकम्पा को प्रधान तथा अपने पौषध को गौण करके चलना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो क्या उसके सम्यक्त्व में दोष नहीं आयगा—यह किन्हीं की शंका हो सकती है। इसके उत्तर में मैं स्पष्ट कहना चाहता हूं कि यदि वह पुत्र अपने रुग्ण पिता की सेवा करता है तो उसे कोई दोष नहीं आता है, बल्कि उसके सम्यक्त्व की अधिक पुष्टि ही होती है। इसके विपरीत यदि वह अपने पिता को असहाय

अवस्था में छोड़ कर चला जाता है तो उसके मूलव्रत में अतिचार लगता है। अनुकम्पा को छोड़ कर पौषधव्रत ग्रहण करने पर भी उसको असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है। इसलिए जैसी अनुकम्पा समस्त भूत-प्राणियों पर की जानी चाहिए, वैसी ही अनुकम्पा की तरलता व्रतधारियों और शीलव्रती साधु-मुनिराजों के प्रति भी होनी चाहिए। दयावान पुरुष का यह हृदय का स्वभाव बन जाता है कि वह कहीं भी दुःख और पीड़ा को देख कर उसे अपने रूप में लेता हुआ प्रकम्पित होने लगता है। कोमलता का भाव ऐसा ही तरल होता है कि वह हृदय सरलता से पसीज जाता है। जिसका हृदय तरल और सरल है, मान लीजिए कि उसका सुख-साता का भविष्य भी स्पष्ट है और उसके आत्मविकास का मार्ग भी स्पष्ट है।

अनुकम्पा का व्यवहारिक रूप : दान

जहां हृदय में दया है, वहां दान की वृत्ति अवश्यंभावी है। दया जब द्रवित होती है तो वह व्यवहार को उसी दिशा में ले जाती है। यही व्यवहार सहायता के रूप में—दान के रूप में प्रकट होता है। जब दयावान का हृदय किसी के कष्ट को देखकर पिघलता है तो वह उसकी सहायता यथायोग्य रीति से करना चाहता है। इस अपेक्षा से विद्या का दान भी होता है, औषधि या अन्य आवश्यक पदार्थों का दान भी हो सकता है और वह उस दान में अपनी भावना एवं शक्ति के अनुसार प्रवृत्त होता है।

इस बिन्दु पर यह प्रश्न पैदा होता है कि वह किस को किस रूप में दान दे ? तो यह सोचने की आवश्यकता प्रस्तुत होती है कि यथारूप यथास्थान दान देने में कौन व्यक्ति किस प्रकार के दान का पात्र है? जैसे एक व्यक्ति आपके सामने आ रहा है और वह आपसे वचन-दान के रूप में अनुकम्पा चाहता है और उसे आप समुचित सान्त्वना दे देते हैं तो वह शांति का अनुभव कर सकता है तो आपकी अनुकम्पा सार्थक बन सकती है। इससे आगे का क्रम यह आ सकता है कि उसको अपना कष्ट-निवारण करने के लिए आप के आर्थिक सहयोग की आवश्यकता हो तो सम्पत्ति-दान का अवसर भी आ सकता है। शरीर बल के योगदान का भी प्रसंग हो सकता है किन्तु इसमें एक ओर तो यह देखना चाहिए कि अपना दान बिल्कुल निःस्वार्थ हो तथा दूसरे वह दान लेने वाला पात्र कैसा है—इसका भी पूरा विवेक होना चाहिए। कहीं भी काम करने लायक हट्टा-कट्टा जवान परिश्रम नहीं करके भीख मांगने लग जाय और पैसे इकट्ठे करके दुर्व्यसनों में लगावे—ऐसे व्यक्ति को दिया हुआ दान, अविवेकी दान कहलायेगा। यह अनुकम्पा की स्थिति का दान नहीं है।

दान में विवेक और पात्रता आवश्यक

एक असहाय व्यक्ति को भी दान देना है, तब भी उसमें विवेक का होना अत्यावश्यक है। एक भूखे नंगे को भोजन और वस्त्र की बजाय धन दे दिया और उसकी वृत्तियां नियंत्रित नहीं रही तो वह उसे गलत काम में खर्च करदे—ऐसा हो सकता है, अतः दान यथापात्र एवं यथायोग्य रीति से देना चाहिए। विवेक एवं पात्रता दान के आवश्यक अंग माने गये हैं। देने वाले की भावना श्रेष्ठ हो, फिर भी परिणाम की दृष्टि से विवेक रखने पर जिसको दान दिया जाता है, उसकी भी वृत्तियां शुद्धिकरण की दिशा में जागृत बनती हैं।

इस सम्बन्ध में स्वर्गीय आचार्यश्री एक रूपक फरमाया करते थे। अमेरिका में दो धनाढ्य मित्र साथ-साथ घूमने जा रहे थे। रास्ते में उन्हें दोनों पैरों से अपंग एक दुःखी व्यक्ति दयनीय अवस्था में दिखाई दिया। उसे देखकर दोनों के हृदय में एक साथ अनुकम्पा की भावना जागृत हुई। किन्तु दोनों की अनुकम्पा का व्यावहारिक रूप भिन्नता से प्रकट हुआ। एक मित्र ने एक हजार डालर उस अपंग के हाथ में रख दिये तो दूसरे मित्र ने वैसा नहीं करके उसे अपनी कार में बिठाया और उसे चिकित्सालय की कर्मशाला में ले गया। वहां उसके लिए उसने कृत्रिम पैर लगाने की व्यवस्था की तथा एक 'मिल' में उस की स्थायी नौकरी लगवा दी। दोनों ने अनुकम्पा से कम्पित होकर सम्पत्ति का दान किया, किन्तु इन दोनों में विवेक का अन्तर था। एक का दान हजार डालर के रूप में अविवेकी था क्योंकि उस धन को दुर्व्यसनों में खर्च करके वह फिर उसी दयनीय दशा में पड़ा रह सकता था, किन्तु दूसरे मित्र ने जिस विवेक के साथ उसको सहायता की, उसने उस अपग के जीवन की दिशा ही बदल दी। वह अपने श्रम से अर्जन करने की दृष्टि से सशक्त बन कर एक योग्य नागरिक बन गया।

अतः दान में विवेक और पात्रता का ध्यान अनुकम्पा करने वाले के लिए सर्वोपरि होना चाहिए। विवेक और पात्रता के ध्यान के साथ ही साता वेदनीय के श्रेष्ठ कर्मों का बन्धन होता है। पात्र के अनुसार ही विभिन्न प्रकार के दान दिये जा सकते है और इसका निर्णय स्वयं अनुकम्पा करने वाले दानी के विवेक की आधारशिला पर किया जायगा। श्रेष्ठ दान के कारण पुण्य बंध के सिवाय कर्मों की निर्जरा भी होती है तथा मनुष्य जीवन के आयुष्य का बंध भी हो सकता है। सुमुख गाथापति ने श्रेष्ठ दान से ही मानव जीवन का आयुष्य बांधा क्योंकि उसका दान तीनों प्रकार से शुद्ध था।

दान की शुद्धता के ये तीन प्रकार होते हैं—पात्र शुद्धता, दाता शुद्धता

और दान शुद्धता । दान देते समय विवेक यही कहलाता है कि उसमें यह तीनों प्रकार की शुद्धता वर्तमान हों ।

दान, दाता और पात्र शुद्धता

सुमुख गाथापति ने साधु जी को जो भिक्षादान दिया, वह तीनों प्रकार से शुद्ध था, इसलिए उसकी सराहना की गई । दान इसलिए शुद्ध था कि उन्होंने साधु के लेने योग्य दान दिया । यह नहीं कि भक्ति के आवेश में आकर विवेक को भूल गये हों । साधु की मर्यादा के निर्वाह में योग देना–यह श्रावक का भी कर्तव्य होता है । यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में साधु को आहार वहराने में मर्यादा का कम ध्यान रखा जाता है जो साधु-जीवन की शुद्धता के लिए उपयुक्त नहीं है । उसके संयम में किसी भी प्रकार से बाधा पहुंचावे—ऐसे दान में भक्ति का आवेग भी हो तब भी वह घातक बन जाता है, क्योंकि वैसी भावना में अनुकम्पा का अनुभाव नहीं होता । इसलिए दाता तब शुद्ध होगा, जब मर्यादा और विवेक का उसको पूरा-पूरा खयाल हो । भोजन के सिवाय वस्त्रादि साधु को देने में भी उसकी संयम–रक्षा के प्रति सबसे पहले सावधानी होनी चाहिए । गृहस्थ द्वारा दिये हुए दान की मात्रा आदि ऐसी होनी चाहिये कि साधु द्वारा उसका दुरुपयोग करने का प्रसंग ही नहीं आवे । दान और दाता इसके विवेक के साथ ही शुद्ध कहला सकेंगे ।

अब जहां पात्र शुद्धता का प्रश्न है, वहां पहले स्वयं साधु के लिए विचारणीय है कि वह अपनी मर्यादा से अधिक तो लेने की इच्छा नहीं कर रहा है और यदि ऐसी इच्छा है तो समझना चाहिये कि पात्र शुद्धि में कमी है । पात्र–शुद्धता का ध्यान दाता को भी रखना चाहिए । यदि साधुत्व की रक्षा का भाव दाता में नहीं है तो वह अनुकम्पाहीन होकर एक प्रकार से साधुत्व की हिंसा कर रहा है—ऐसा कहा जा सकता है । क्योंकि साधुत्व का प्राण पच महाव्रत होते हैं और साधु पर अनुकम्पा करने का यह अर्थ होगा कि उसके प्राण की रक्षा हो—शरीर पिंड पर ही दाता की नजर न रहे । औषध–भेषज से शरीर पिंड की भी रक्षा आवश्यक है लेकिन उस शरीर रक्षा का भी उद्देश्य साधुत्व की रक्षा ही होना चाहिए ।

साधु को छः काया का पिता कहा गया है तो उसका यह पितृत्व पंच महाव्रत की रक्षा में है । अतः जो दान और दाता साधु को आदर्श त्यागी बनाये रखें, वही शुद्ध होगा और जो साधु ऐसा समझ कर दान ले, वही पात्र

शुद्धता होगी । दान, दाता और पात्र की शुद्धता का विवेक यथास्थान यथायोग्य सभी जगह रहे—यह समुचित है ।

दान प्रवृत्तियां और साधु की मर्यादा

गृहस्थों द्वारा चलाई जाने वाली कई प्रकार की दान सम्बन्धी प्रवृत्तियां हो सकती हैं लेकिन उनमें किसी भी तरह का योग साधु अपनी मर्यादा के अनुसार ही दे सकता है । उपकार का भी काम हो किन्तु चन्दे-चिट्ठे में सच्चे साधु से सहयोग की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए । मेरी वृत्ति भी आप स्पष्ट समझ लीजिए कि मैं इस प्रकार संस्थाओं के चन्दे-चिट्ठे के लिये अपने आपको कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं समझता । संसारगत परोपकार के कामों में साधुओं को न उलझना चाहिये और न उलझाना चाहिए । ऐसा गृहस्थों के कार्य करने का क्षेत्र होता है और उसका भार उन्हें स्वतः ही उठाना चाहिये ।

गृहस्थ लोग परस्पर के भाईचारे से भी कितना संगठित कार्य कर सकते हैं—इसके उदाहरण मुस्लिम समाज में देखे जा सकते हैं । स्वधर्मी को सहयोग देने की भावना भी अनुकम्पामय वात्सल्य की ही परिचायिका होती है । जैन समाज में इस वात्सल्य की दुरावस्था पर ध्यान दिया जाना चाहिये और इस दिशा में सदाशय स्नेह को वल मिलना चाहिये ।

स्वधर्मी के साथ सदाशय सहयोग

आज जो अहिंसाधर्मी कहलाने वाले हैं, क्या उनमें परस्पर सदाशय सहयोग और स्नेह के सम्बन्ध हैं ? एक दूसरे के मिलने पर कुशल क्षेम पूछना या सहयोग का प्रस्ताव करना तो दूर रहा, शायद एक दूसरे का मुस्कुरा कर अभिवादन करना और वचन से सांत्वना देना भी मुश्किल से ही वन पड़ता होगा । जो अपने आपको समर्थ समझते हैं, उनसे मैं पूछता हूं कि स्वधर्मी सहयोग में रुचि नहीं रखने का उनके मन में कौन सा गर्व भरा पड़ा है ? क्या चांदी के चंद टुकड़े मिल गये या वड़ा पद मिल गया, उससे स्वधर्मी भाई से स्नेह से वोलने का नाता भी टूट गया ? यह अतीव लज्जाजनक स्थिति है । जो ऐसी स्थिति में चल रहे हैं, क्या मैं उनको जैन भी कहूं या कुछ और नाम दूं ? समाज में आर्थिक अवस्था की दृष्टि से खड़ी की जाने वाली ऐसी असमानता की दीवार घातक प्रभाव डालेगी । स्वधर्मी भाई को उसकी आवश्यकता और अपनी शक्ति के अनुसार सहयोग देने की सदा तत्पर भावना रखनी चाहिए । स्वधर्म के स्नेह सूत्र की सुदृढ़ता इसी से प्रकट होता है ।

सुख दो, सुख पाओ !

इस सारे विश्लेषण का सार तत्त्व यह है कि आप सबको जितना आत्मीय सुख पहुंचाओगे, उतना ही पुण्य रूप साता वेदनीय का आपके बंध होगा तथा तदनुसार सुख आपको प्राप्त होगा । साता वेदनीय कर्म के बंध एवं उदय से धर्माराधन के लिए शुभ संयोग प्राप्त होंगे और उन शुभ संयोगों के वातावरण में यदि आत्मा का परमात्म-स्वरूप तक पहुंचने का लक्ष्य निश्चित हो जाय तो यथोचित विवेक एवं पुरुषार्थ की सहायता से आप परमात्मा को अवश्य ही हृदयवर्ती बना सकेंगे ।



सर्वांगीण जीवन का विकास





बारहवां प्रवचन

दिनांक ८ अक्टूबर, १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

"तुज मुज आंतरू रे, किम भांजे भगवंत..............."

आत्मा और परमात्मा के वीच के अन्तर को दूर करने के प्रसंग से पद्म प्रभु की प्रार्थना को उसके गूढार्थ में समझने का यत्न किया जा रहा है। इस सत्प्रयास की आवश्यकता है कि संसार की भव्य आत्माएं भी परमात्मा के तुल्य अपना स्वरूप वनालें, किन्तु जव वर्तमान समय में मानव जीवन के कार्य कलापों पर दृष्टि डालते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि अभी यह जीवन विविध प्रकार की उलझनों में फंसा हुआ है। ये उलझनें कई प्रकार के रूप वना कर मानव मस्तिष्क को घेरे हुए हैं। ये उलझनें इस कारण तरह-तरह की भ्रान्तियां उत्पन्न करती हैं और इस प्रकार वस्तु-स्वरूप के सत्य निर्णय से मानव-मस्तिष्क को प्रतिवाधित करती हैं।

मानव जीवन की समस्त गतिविधियों के संचालन का केन्द्र-रूप मस्तिष्क होता है और जहां केन्द्र की दृष्टि से उसे जीवन को आत्मिक उन्नति के पथ पर आरूढ़ करना चाहिये, वहां वह केवल शरीर का प्रतिनिधित्व करके उससे सम्वन्धित भौतिक सुखों के क्षेत्र में ही अधिकतर कार्यरत रहता है। वुद्धि का कार्य क्षेत्र मुख्य रूप से मस्तिष्क होता है और इस कारण मस्तिष्क ही विभिन्न प्रकार के विचारों का उद्गम स्थल होता है। पूर्व जन्म और वर्तमान जन्म के संस्कारों की छाप भी मस्तिष्क पर होती है और इसलिये समग्र जीवन के सर्वांगीण विकास के प्रेरक विचारों का सूत्रपात भी इसी मस्तिष्क के धरातल पर गम्भीर चिन्तन के रूप में होना चाहिये। संस्कार निर्माण के अनुरूप ही मस्तिष्क संस्कारित भी होता है और असंस्कारित भी। संस्कारित होने पर विचारों की दशा आत्मा को नियंत्रित एवं संयमित वनाती है और जीवन को लोकहित का साधन वनाती है, परन्तु इसके विपरीत असंस्कारित अवस्था जीवन को आत्म-पतन की गहराइयों तक पहुँचा देती है।

सामूहिक रूप से संस्कार-निर्माण के प्रयास

व्यक्तिगत उत्थान-पतन का वहुत कुछ आधार सामूहिक रूप से संस्कार निर्माण के प्रयासों पर भी निर्भर करता है। यह सामाजिक प्रयास होता है।

महापुरुषों की चिन्तन-धाराएं सामूहिक रूप से अपना प्रभाव डालती हैं और समाज में सर्वांगीण विकास का एक सामान्य धरातल बनाती हैं। इसी सामान्य धरातल को जन-मानस के समक्ष समुचित रूप में प्रस्तुत कर उसकी सही दशा में गति कराने के प्रचार-प्रसार के प्रयासों की भी निरंतर अपेक्षा रहती है। आज ऐसे प्रयासों में भारी मन्दता देखने में आती है और यही कारण है कि आज मानव मस्तिष्क में साधारण रूप से वह संस्कारों के निर्माण का स्तर नहीं है, जिसके आधार पर आत्माभिमुखी प्रवृत्ति प्रमुख बनी रहती है।

आधुनिक युग में एक अपेक्षा से तो इस मस्तिष्क का काफी विकास हुआ है, जिसकी झलक वैज्ञानिक प्रगति के रूप में आप देखते हैं। किन्तु इस प्रगति का लक्ष्य जीवन के सर्वांगीण विकास की ओर नहीं है। यह प्रगति केवल एक भौतिक दिशा में चल रही है जिसका आत्मिक विकास की दिशा पर कई बार विपरीत प्रभाव ही पड़ रहा है। यदि सर्वांगीण रूप से आत्म-विकास के समस्त छोरों को व्यवस्थित रूप देना है और इस लौकिक व्यवस्था को भी समता के आधार पर सन्तुलित बनाना है तो इस मस्तिष्क की विचार-गति को एक स्वस्थ मोड़ देना पड़ेगा।

विचार गति में एक स्वस्थ मोड़

मानव मस्तिष्क की विचार गति में एक स्वस्थ मोड़ देने का प्रयास प्रार्थना के माध्यम से सरलतापूर्वक किया जा सकेगा। वीतराग देव की प्रार्थना वीतराग देव के प्रगति-पथ को—उनके आदर्शों को स्पष्ट करती है और इन्हीं आदर्शों का जब सार्वजनिक रूप से प्रचार-प्रसार किया जाय तो सामूहिक चिन्तन-धारा को आत्मिक विकास की दिशा में मोड़ा जा सकेगा। आत्म विज्ञान की दृष्टि से वीतराग देव द्वारा प्रणीत जो उन्नायक सिद्धान्त हैं, वे किन्हीं भी अन्य सिद्धांतों की तुलना में उच्चतर ही ठहरते हैं। इस कारण उन सिद्धांतों की शरण में जाने से जीवन के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त बन जाता है।

चिन्तन प्रत्येक मस्तिष्क का स्वभाव है किन्तु उसमें पूर्णता और परिपक्वता वही मस्तिष्क प्राप्त कर सकता है जिसने आत्मिक विकास के शिखर को छू लिया हो। अपूर्ण मस्तिष्क से उभरी हुई धारा अपूर्ण होने से भ्रांतिपूर्ण भी हो सकती है और विकास-विरोधी भी। यही कारण है कि अपूर्ण विचार धारा को पकड़ कर यदि कोई चल पड़े तो यह मुख्य आशंका रहती है कि वह कहीं अपना भविष्य ही अधर में न झुला दे। वीतराग देवों ने अपने जीवन में ज्ञान एवं साधना की पूर्णता प्राप्त की तथा उसके बाद उन्होंने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, उनका आश्रय लेने में अपने जीवन के प्रति एक निश्चिन्तता

का भाव आ जाता है कि इन आदर्शों का पालन जितनी अधिक निष्ठा से हो सकेगा, उतनी ही लक्ष्य प्राप्ति की दूरी कम होती जायगी। रास्ता सही है, तब प्रगति धीमी भी हुई, परन्तु भटकाव की दशा तो पैदा नहीं होगी।

जैन-दर्शन के अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद एवं कर्म-सिद्धांत आदि ऐसे पूर्ण एवं परिपक्व सिद्धान्त हैं जिनकी छाया में यदि जन-मानस को जगा कर संस्कार-निर्माण का सामूहिक कार्य हाथ में लिया जाय तो व्यक्तिगत एवं समाजगत दोनों प्रकार के जीवन-प्रवाह को विचार और आचार की दृष्टि से आत्माभिमुखी दिशा में स्वस्थ मोड़ दिया जा सकता है। आवश्यकता है कि प्रबुद्ध कार्यकर्त्ता इस ओर ध्यान दें तथा अपने जीवन का भोग देते हुए स्व-पर के सच्चे कल्याण-कार्य में अपने आपको नियोजित करें।

कर्म-सिद्धांत न्याय की तुला पर

कर्म-सिद्धांत पर इन दिनों कुछ विवेचन किया जा रहा है। कर्म दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म। शुभाशुभ कार्य के फलस्वरूप द्रव्य-कर्म आत्मा के साथ संयुक्त होता है तो भाव-कर्म आत्मा की शक्ति के साथ। ये आत्मा के विभाविक परिणाम होते हैं। इन्हीं परिणामों का असर होता है कि आत्मा की भौतिक पदार्थों के संग्रह के प्रति आसक्ति भावना उग्र बनती है और उससे निरन्तर कर्म-बन्धन और उदय का प्रसंग पैदा होता है। बन्ध, उदय और फल की प्रक्रिया को कर्म-विपाक का नाम दिया गया है। जब तक राग-द्वेष की विषम वृत्तियों में यह जीवन डूबा रहता है, तब तक इस प्रक्रिया का चक्र घूमता रहता है, जिस का अन्त, यह बताया गया है कि नवीन कर्मों के अवरोध एवं पूर्वार्जित कर्मों के क्षय से ही किया जा सकता है। इसीलिये मानव जीवन में सामूहिक रूप से विचार एवं आचार को समता की नवीन दिशा देने से इस चक्र को शिथिल एवं अन्ततः समाप्त किया जा सकता है।

कर्म सिद्धान्त को न्याय की तुला पर रखने की बात मैं इसलिये कह रहा हूं कि यह आत्मा के भावी को पराश्रित नहीं बनाता। आत्मा स्वाश्रित होती है, अपने भाग्य की स्वयं निर्माता होती है तथा जैसा स्वयं करती है, वैसा फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है। इस भुगतान में कोई पक्षपात नहीं होता। इस सिद्धान्त की इस कारण मूल प्रेरणा यह प्रस्फुटित होती है कि आत्मा सुखाभासों में सोएगी तो उसे अपनी गफलत का कष्ट भुगतना पड़ेगा और अगर पुरुषार्थ एवं विवेक के साथ जागृत बनेगी तो उसका विकास के रूप में सुखद फल भी उसे प्राप्त हो सकेगा। जैसा बोवोगे वैसा काटेंगे : जैसा करोगे, वैसा भरोगे—यह निष्पक्ष और अप्रभावित कर्म-सिद्धान्त का रूप है।

अब इसकी सहायता से जितनी आत्म-स्वरूप की वास्तविकता प्रकट की जा सकेगी, कर्मक्षय का संकल्प भी उससे पुष्ट और परिपक्व बन सकेगा।

मस्तिष्क को खाली करो और भरो

सर्वांगीण जीवन के विकास की दिशा में इस भूमिका के साथ गहन चिन्तन की आवश्यकता है। इसके लिये एक ओर तो मस्तिष्क में जो दुनियावी चीजों का अम्बार भरा हुआ है, उसे खाली कर दो और फिर उसे आत्मिक अनुभूतियों से भरो। भौतिक प्राप्तियों की वितृष्णा सम्बन्धी जितने विचार इस मस्तिष्क में रात-दिन उथल-पुथल हो रहे हैं, उन्हें एक बार पूरे तौर पर निकाल देने की जरूरत है क्योंकि इन विचारों ने न सिर्फ व्यक्ति के जीवन को विषम एवं विशृंखल बना रखा है बल्कि सारे सामाजिक जीवन में भी इन विचारों की क्रियान्विति से विषमता की विषैली हवा बह रही है जिसने शोषण, दमन और उत्पीड़न का कटुतम वातावरण चारों ओर फैला दिया है।

मस्तिष्क में से इस कारण जितने ये विषम विचार बाहर निकल जायेंगे, उतना ही समभाव प्रबल बनेगा, जो आत्मीय विचारों से मानव-जीवन को ओतप्रोत बना कर समता-समाज का निर्माण कर सकेगा। ये विषम विचार मस्तिष्क को किस प्रकार प्रपीड़ित बनाते हैं—इस सम्बन्ध में एक रूपक से इसकी बारीकी को समझिये। एक कमरा विविध प्रकार के सजावटी सामान से सजा हुआ है और वह सजावट इतनी घनी है कि कमरे की दशा पर ध्यान ही नहीं जाता है। कमरा गौण और सजावट—रूप या अपरूप दोनों—मुख्य बन जाती है। अब यदि कमरे को ही वास्तविक रूप से देखना और परखना है तो जरूरी यह होगा कि एक-एक करके सारा सामान कमरे से बाहर निकाल दो। उस के बाद खाली कमरा सिर्फ कमरा रह जायगा, तब जो दिखेगा वह कमरे का असली रूप होगा। इसी तरह मस्तिष्क में से सारे दुनियावी विचारों और तर्क वितर्कों को बाहर निकाल देने के बाद आत्मा का मूल रूप प्रकाशित होगा। तब उसमें वे विचार उभर कर ऊपर आएंगे, जो उस आत्मिक रूप को सुघड़ एवं शुद्ध बनाने वाले होंगे। तब तर्क से ऊपर भावना का स्थान होगा, आडम्बर के स्थान पर सच्ची साधना जन्म लेगी।

मस्तिष्क को खाली करने और भरने का यही तात्पर्य है कि उसकी विचार-गति को एक परिवर्तन की दिशा दो—विचारों के विचरण क्षेत्र को बदल दो। यह परिवर्तन आत्मा की शक्ति को उभारने वाला होना चाहिये। इस परिवर्तन का अभिप्राय विचारशून्यता पैदा करना नहीं, ऊर्ध्वगामी वैचारिकता को प्रोत्साहन देना है क्योंकि आत्मा कभी भी विचारों से शून्य नहीं बनती—

वैचारिकता है वहीं तो चेतना होती है। विचार आत्मा का गुण है तथा गुण-गुणी का अभेद्य सम्बन्ध है। इसे तादात्म्य सम्बन्ध भी कह सकते हैं। जहां किसी तत्त्व को किसी तत्त्व से बाहर निकाल सकने की बात होती है उस सम्बन्ध को संयोग सम्बन्ध कहा जाता है। संयोग सम्बन्ध में जिनका सम्बन्ध जुड़ाया गया है, उनको अलग भी किया जा सकता है किन्तु तादात्म्य संबंध में अलगाव नहीं हो सकता है। विचार शक्ति आत्मा के साथ तादात्म्य संबन्ध में होती है, इस वास्ते मस्तिष्क को खाली करो और भरो का अर्थ विचार परिवर्तन के रूप में ही लेने की आवश्यकता है।

तादात्म्य सम्बंध का स्वरूप

विचार आत्मा की शक्ति है और उसका आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है। शक्ति तेज या मन्द हो सकती है किन्तु समाप्त नहीं होती क्योंकि वह आत्मा का गुण है तथा गुण और गुणी के सम्बन्ध में विच्छेद नहीं होता। इसको ठीक से समझने के लिये सूर्य और सूर्य की किरणों की उपमा दी जा सकती है। सूर्य और सूर्य की किरणों का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। सूर्य से सूर्य की किरणें अलग नहीं की जा सकती हैं। किरणें सूर्य की तद्रूप होती हैं। प्रकाश से रिक्त सूर्य का अस्तित्त्व नहीं होता तो जहां सूर्य है, वहां किरणों का अस्तित्त्व होगा ही। उसी प्रकार चितन्न, विचार या इच्छा शक्ति आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध में रही हुई होती है। वस्तुतः चिंतन ही तो चेतना है और चिंतनहीनता आत्मशून्यता का ही तो रूप माना जाता है।

हाँ, सूर्य की किरणें जिस वातावरण को छूती हैं, वैसा रंग और रूप वे अपने में अवश्य भर लेती हैं। उदयाचल पर्वत की लालिमा को जब वे किरणें प्रभातकाल में अपने अंक में भर लेती हैं तो वे सर्वत्र अरुणिम बन जाती हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क के विचार भी जिन संस्कारों के रंग-ढंग में ढलते हैं, उन्हीं का रूप-स्वरूप भी वे पकड़ लेते हैं। इसीलिये कहा गया है कि विचार आत्मा का गुण है, तादात्म्य संबंध से जुड़ा हुआ है, लेकिन जैसे संस्कारों का धरातल मस्तिष्क को मिलेगा, वैसा ही स्वरूप विचार-गति का बनता जायगा। अतः समस्या विचारों के संशोधन करने की है, उनमें यथोचित परिवर्तन लाकर उन्हें विकासोन्मुखी बनाने की है।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप भी सांसारिक पदार्थों के सम्पर्क में आ जाने से रंग-बिरंगा बना हुआ है। शुद्ध श्वेत वर्ण चितकबरा बन गया है और आत्म-स्वरूप भ्रान्त सा दिखाई देता है। भ्रांत इस कारण कि मूल-स्वरूप के प्रति तो विस्मृति आ गई है और साधारण रूप से मानव यही समझने लग

गया है याने कि शरीर-सुख ही सब कुछ है । शुद्ध स्वरूप आत्मा का गुण है और वह आत्मा से तादात्म्य रूप से सम्बन्धित है, किन्तु उसके साथ जो अशुद्धता संलग्न हो गई है, उसे परिमार्जित करना आवश्यक है ।

अशुद्ध स्वरूप का परिमार्जन

इस अशुद्ध स्वरूप का परिमार्जन दृढ़ निष्ठा के साथ किया जाना चाहिये और इस विश्वास के साथ कि आत्मा अनन्त शक्तियों की त्रिकाल द्रष्टा है । ये शक्तियाँ पर-पदार्थों से अनुरंजित हो जाती हैं, किन्तु ज्यों ही उनकी अशुद्धता का परिमार्जन कर दिया जाय तो वे सूर्य की किरणों की तरह प्रकाशमान हो उठती हैं । तभी आत्मा का वास्तविक रूप सत्-चित् और आनन्द के रूप में प्रकट होता है ।

इस उद्देश्य के लिये दो बातों की जरूरत होती है । एक तो मस्तिष्क में उभरने वाले विचार-प्रवाह को संशोधन और परिमार्जन की नई दिशा देनी होगी तो दूसरे साता-वेदनीय के बंध और उदय की आवश्यकता होगी, जिससे विचार और आचार की सहज ही में उत्कृष्टता बन सके । चलते दोनों है— एक जो डामर की सड़क पर चलता है और दूसरा जो ऊबड़-खाबड़ कंटीले मार्ग पर, किन्तु पहला सहज ही में तीव्र गति से आगे बढ़ता है और दूसरा जब तक बहुत ही मजबूत इरादे का नहीं हो तो रुक जाता है—न भी रुके तो उसकी चाल धीमी और कष्टदायक रहती है । इसी तरह असाता वेदनीय और साता-वेदनीय का रूपक होता है । साता-वेदनीय गति के लिये डामर की सड़क बना देता है, जिस पर चाल तेजी से और सुख से हो सकती है । इस तथ्य पर कुछ सोचा जा चुका है कि साता-वेदनीय कर्म को बांधने के उपाय क्या हैं और सर्व प्राणियों पर अनुकम्पा रखने एवं जरूरतमन्द को उदार मन से दान देने के लिये मनुष्य को अपने आचरण में क्या-क्या परिवर्तन लाने होंगे ?

इसी अनुक्रम में सराग-संयम का प्रसंग आया है । आत्मा समभाव में रमण करने लगे—उस स्थिति को संयम कहते हैं । यह वृत्ति उच्चतर बनती हुई साधु अवस्था तक पहुंचती है और इसकी परिपूर्ण अवस्था अरिहंत भगवान् की होती है । किन्तु साधु बन जाने पर भी अपनी दुर्बलताओं के साथ वह देश-संयम से पूर्ण संयम की ओर बढ़ सकता है । यह निरन्तर संशोधन और परिमार्जन की अवस्था होती है कि अशुद्धता हट कर वहां शुद्धता प्रसारित होती जाय । इस अशुद्ध अवस्था में जो राग की थोड़ी बहुत मात्रा बनी रह जाती है, उस अपेक्षा से सराग-संयम की व्याख्या की जा सकती है ।

परिमार्जन की प्रक्रिया में बाह्य रूप से शरीर के प्रत्येक अवयव में भी संयम की झलक दिखाई देती है। इसीलिये शास्त्रकारों ने "हत्थ संयमे पाय संयमे" का संकेत दिया है। संयम में इन्द्रियों पर सम्यक् प्रकार से नियंत्रण होना चाहिये, किन्तु फिर भी जब तक छद्मस्थ अवस्था रहती है तब तक प्रशस्त राग की दशा भी बनी रहती है। इससे रंजित आत्मा साधना के पथ पर अग्रसर होती है तो संयम से आत्मा की शुद्धि और साता-वेदनीय का बंध दोनों होते हैं। इसे ही सराग-संयम कहा गया है। पूर्ण आत्म नियंत्रण की स्थिति में पूर्ण संयम कहलाता है। परिमार्जन की प्रक्रिया की यह अंतिम अवस्था होती है।

"धर्मानुरागरत्ता" का महत्त्व

शास्त्र का पाठ है कि पहले श्रावक कैसे होते थे? वे "धर्मारागरत्ता" होते थे अर्थात् धर्म के अनुराग में रक्त रहने के कारण वे सत्-सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार में भी लगते थे, जिससे कि सामूहिक रूप से भी समाज में आत्म-विकास का मार्ग प्रशस्त बन सके। जो धर्म को अपने जीवन में जितना उतार सके, उतारे और अपने जीवन को शुद्ध बनावे किन्तु उसके आगे भी उसका कर्त्तव्य समाज के प्रति यह होता है कि वह धार्मिक विचारधारा का अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार करते हुए अधिक से अधिक मात्रा में जन-जीवन में भी संशोधन एवं परिमार्जन की प्रक्रिया प्रारम्भ करे। धर्मानुराग में रत रहने का यही व्यापक अर्थ हो सकता है।

इस सम्बन्ध में कई बार श्रावक लोग जोश में आकर यह कह देते हैं कि प्रचार एवं प्रसार आवश्यक है, अतः पूर्ण संयम के नाम पर साधुजन जो इस कार्य में व्यावहारिक रूप से योग नहीं देते हैं, उन्हें भी इस तरफ आगे बढ़ना चाहिये। उनको मेरा यही उत्तर होता है कि जिस संयम का आप लोग व्यापक रूप से प्रचार और प्रसार चाहते हैं तो उसमें हमारा सहयोग क्या इस रूप में लेना चाहते हैं कि हम उसी संयम को रद्दी की टोकरी में फैंक दें। जिस का आपको प्रचार करना हो, उसको स्टॉक में रखना जरूरी है तथा उसका नमूना बता कर ही उस चीज का सही प्रचार किया जा सकता है। उस चीज में धूला मिला दें तो उसे न तो कोई खरीदेगा और न उसका प्रचार कामयाब होगा।

प्रचारक का काम आविष्कारक नहीं करता

साधारण रूप से प्रचारक का काम एक आविष्कारक नहीं कर सकता है। जिस वस्तु का जो आविष्कारक है—उत्पादक है, वह उसका ज्यादा से

ज्यादा उत्पादन कर सकता है—उसमें नई-नई पद्धतियां तैयार कर सकता है लेकिन प्रचार व प्रसार का काम दूसरों को ही करना पड़ेगा। इसी तरह साधु-समाज अगर प्रचार-प्रसार के कार्य में अपने ध्यान को केन्द्रित बना ले तो उसके मन और मस्तिष्क की शक्ति, जो संयम के शुद्ध स्वरूप का निर्माण करती है, वह अन्य दिशा में विभाजित हो जाने से उतनी प्रखर बनी नहीं रह सकेगी। अतः निर्माण और प्रचार के काम अलग-अलग ही प्रभावोत्पादक बने रह सकेंगे।

अतः वीतराग देव के सिद्धान्तों के प्रसार–प्रचार का कार्य तो अपने सांसारिक कार्यों में से कुछ समय निकाल कर श्रावकवर्ग ही सम्हाले अथवा स्व. आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा. की वीर–योजना अमल में लाई जाय अथवा स्व. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. के सुझाव के अनुसार एक ब्रह्मचारी वर्ग की इस हेतु स्थापना की जा सकती है। इस सुझाव पर योजना बद्ध विधि से कार्यान्वय किया जाय तो प्रचार–प्रसार की प्रभावशाली रूपरेखा बनाई जा सकती है।

लगन अन्तःकरण की होनी चाहिये

आप जितने भी भाई–बहिन वीतराग वाणी को पसन्द करते हैं, किन्तु वह पसन्दगी ऊपरी ज्यादा दिखाई देती है और अन्तःकरण की कम। अतःकरण की लगन के बिना बाहर का आडम्बर विशेष महत्त्व नहीं रखता। श्रावक वर्ग में से ऐसे कई निवृत्त व्यक्ति निकल सकते हैं, जिनकी गृहस्थियों का भार उनके बेटे–पोते सम्हाल रहे हैं या वे उन्हें सम्हला कर स्वतंत्र बन सकते हैं, जो प्रचार प्रसार का काम अपने हाथों में ले सकते हैं तथा अपने ज्ञान व अनुभव के सहारे उसे विस्तृत और व्यापक बना सकते हैं।

परन्तु ऐसा बने कब ? जब उनकी राग–दशा मन्दी बने। व्यर्थ में वे कुटुम्ब परिवार के राग को पकड़ कर बैठे रहते हैं किन्तु उससे छुटकारा नहीं पाते हैं। कहते हैं कि परिवार वालों ने उनको पकड़ रखा है, व्यापार धंधों ने उनको पकड़ रखा है किन्तु असल में यह पकड़ अपनी ही तृष्णा और राग-वृत्ति की होती है, वरना त्यागी को कौन-सी जकड़ पकड़ कर रख सकती है ? यह आत्मा ही अपने स्वरूप को भूल कर यह मान बैठती है कि दुनिया की बातों ने उसको पकड़ रखा है। आत्मा ही अपनत्व को भूल कर पर-पदार्थों की छाया में चलती रहती है।

असल बात है अन्तःकरण की लगन की। धर्म की बातें मुंह से तो बहुत दुहराते रहते हैं, मगर उन्हें आचरण में लाने के लिये चरण आगे नहीं

बढ़ते—यही खेदजनक स्थिति है । ऐसे लोगों का प्रचारक वर्ग बनाया जाय, जिसमें रुचिपूर्वक किसी भी आयुवर्ग का व्यक्ति प्रवेश ले सकता है, कारण कि वह इस वर्ग के कार्य से थक जाय और अधिक धर्मानुरागी बनना चाहे तो साधु-जीवन की ओर मुड़ जावे तथा नीचे की स्थिति की ओर भी जावे, तब भी उसके मनोभावों की बात है । इस प्रचारक वर्ग के लिये तीनों दरवाजें खुले रह सकेंगे । यह वर्ग यदि निष्ठा के साथ इस काम में जुट जाय तो कोई कारण नहीं कि व्यापक रूप से एक नये वातावरण का निर्माण न हो । अतः अन्तःकरण की गहरी लगन के साथ इस शुभ कार्य का श्रीगणेश करने की आवश्यकता है ।

आत्म भोग देने का क्षेत्र

सत्य-धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य वास्तव में आत्म-भोग देने का क्षेत्र है । गृहस्थ में रहते हुए भी स्व-पर कल्याण में कुछ समय और श्रम दे सकें तो इससे त्याग-वृत्ति का ही विकास होगा । यह श्रावकों का ही काम नहीं है अपने क्षेत्र में श्राविकाओं का भी उतने ही दायित्व का कार्य है । कुछ जागरूक बहिनें आगे आई हैं और यदि वे दृढ़ता से कार्य करती रहीं तो वे अपने ही बल पर समाज में क्रान्ति भी ला सकेंगी । आत्म बल एवं साहस के साथ जो भी कार्य उठाया जायगा उसमें सफलता अवश्य प्राप्त हो सकेगी ।

मानव-जीवन की साधारण सार्थकता के अनुसार भी सबको अपनी यथाशक्ति एवं यथायोग्यता मानसिक, वाचिक, बौद्धिक आदि शक्तियों को समाज सेवा हेतु भी अर्पित करना चाहिये । बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रीभूत इसी तरह किया जा सकेगा ।

सर्वांगीण विकास की ओर

जीवन का सर्वांगीण विकास और सर्वांगीण जीवन का विकास—इन दोनों लक्ष्यों के प्रति साथ-साथ गति की आवश्यकता है । जीवन के सर्वांगीण विकास का अर्थ है कि व्यक्ति के जीवन के सभी पक्षों का समान रूप से विकास हो तो सर्वांगीण जीवन का अभिप्राय सभी प्रकार के जीवन याने समाज-गत विकास की उपलब्धि है । प्रचार-प्रसार के जिस शुभ कार्य का उल्लेख किया गया है, उसका मुख्य उपयोग ही सामाजिक जीवन की जागृति में निहित है । जीवन के समुन्नत मार्ग को अधिक से अधिक लोग जाने तथा उस पर चलने के लिये प्रेरित हों—यह प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति का पवित्र कर्त्तव्य होना

चाहिये क्योंकि उसकी प्रबुद्धता यदि अपने साथियों और आस-पास के वातावरण को जगाने के काम न आ सकी तो उसका सामूहिक लाभ ही क्या ? अतः प्रचार-प्रसार के कार्य में तन, मन, धन की शक्तियां लगा कर कार्य किया जायगा तो अपनी आत्मा का उत्थान होगा, साता वेदनीय कर्म का बंध होगा तथा सामाजिक जीवन में भी नई जागृति जन्म ले सकेगी।

सर्वांगीण जीवन के विकास की दृष्टि से कुछ नया संकल्प बन सके तथा उसकी पूर्ति के लिये विवेक और पुरुषार्थ जुट सके—इस हेतु अन्तःकरण-पूर्वक परमात्मा की प्रार्थना करें।



संघ-शक्ति का महात्म्य



तेरहवां प्रवचन

दिनांक ९ अक्टूबर, १९७२

प्रवचनस्थल—लालभवन

जयपुर (राजस्थान)

"पदम प्रभु जिन तुज मुज आंतरु रे..................."

यह पद्म प्रभु के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण अपनी ही आन्तरिक शक्ति को जगाने का पुण्य कार्य है। परमात्मा के तुल्य शक्ति से सम्पन्न यह आत्मा इस विश्व के अन्दर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इस तत्त्व की जागृति पर ही प्रगति की समूची आधार-शिला टिकी हुई है। आत्मा को जागृत करने के लिये इसके सजातीय तत्त्व का सम्पादन किया जाना जरूरी है। इस आत्मा का यदि विश्व में कोइ सजातीय तत्त्व है तो वह परमात्मा ही है।

परमात्मा की परिपूर्ण विकसित अवस्था को प्राप्त करना ही इस आत्मा का ध्येय है। किन्तु इस ध्येय की ओर गति तब ही की जा सकती है, जब आत्मा स्वयं अपने स्वरूप को समझ कर अपने व परमात्मा के बीच की दूरी को समाप्त करने की चेष्टा करे। परमात्मा का स्वरूप और आत्मा का स्वरूप—ये दोनों स्वरूप समझने की दृष्टि से संसार में गहनतम हैं। इसी कारण इन स्वरूपों का विश्लेषण करना सहज नहीं होता है। इन्हें समझने के लिये यदि यथाशक्ति प्रयास किया जाय तो मनुष्य धीरे-धीरे अपने अंत:करण में इस चैतन्य देव को जागृत कर सकता है।

परन्तु इस चैतन्य देव को इस विराट् विश्व के अन्दर जागृत कर पाना साधारण रूप से सामान्य जन की क्षमता में नहीं होता है, कारण कि इसके लिये साधना करने की आवश्यकता होती है। सभी प्रकार की निवृत्ति में अग्रसर बन कर ही साधक सफलतापूर्वक इस जागृति-पथ पर गति कर सकता है।

संघ-शक्ति की विशेषता

इस कठिन पथ पर जब सामान्य-जन से एकाकी चलने की क्षमता नहीं होती है तो वैसी क्षमता बनाने का यही उपाय हो सकता है कि जिन विशिष्ट जनों ने अपने ज्ञान एवं अनुभव की उत्कृष्टता के बाद जो मार्ग बताया है, उस पर सबको साथ लेकर चलने की परिपाटी बनाई जाय। साधना से विशिष्ट शक्ति प्राप्त करने के बाद ही कैवल्य ज्ञान के रूप में तीर्थंकर आत्म-परमात्म-

स्वरूप का स्वयं दर्शन करते हैं तथा उनकी सूक्ष्मता का विश्लेषण वे भव्य प्राणियों के लिये प्रस्तुत करते हैं। इसी विश्लेषण का अनुकरण संघ-शक्ति के साथ में इस आत्म-तत्त्व को जगाने का प्रवल कारण वन सकता है।

तीर्थंकर देवों ने सम्यक्-ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की उपलब्धि के जो निर्देश दिये हैं, उन निर्देशों का सामान्य साधक के लिये एकाकी रूप से पालन कर सकना सरल नहीं होता हैं। अकेले चलने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है तथा कई वार ऐसा हो सकता है कि वे कठिनाइयां साधक को अपनी उन्नति से नीचे गिरा दें। इस कारण उन निर्देशों को अपने जीवन में साकार रूप प्रदान करने के लिये सबको साथ लेकर चलने की प्रवृत्ति अधिक फलदायी वन सकती है। सघ-शक्ति की यही विशेषता होती है कि यह पराक्रम को सामूहिक रूप देकर उसे सभी के लिए साध्य वना सकती है।

चतुर्विध संघ का निर्माण

यही कारण है कि तीर्थंकरों ने कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति होते ही चार तीर्थों की स्थापना की वलिक उनका नाम तीर्थंकर ही इसलिये कहा जाता है कि वे तीर्थों को वनाते हैं। तीर्थों को वनाने का अर्थ है कि वे संघ का निर्माण करते हैं। यह संघ चतुर्विव इसलिये कहा गया है कि इसके चार अंग होते हैं— साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। इन चारों का समूह ही संघ होता है और सघ तीर्थ रूप होता है, इसी कारण संघ के सभी अगों को भी तीर्थ माना गया है और इनके निर्माता तीर्थंकर कहलाते हैं।

तीर्थंकरों ने इस सघ के माध्यम से जो निर्देश दिये हैं, इस विषम स्थिति में यदि संघ-वद्ध होकर उनका यथोचित पालन किया जाय तो मनुष्य समतामय धरातल पर न केवल अपने आपको ही आरूढ़ कर सकता है वलिक सामूहिक शक्ति को सजग वना कर सारे समाज को भी उस पर आरूढ़ वना सकता है। यह चतुर्विव संघ एक प्रकार से आध्यात्मिक दृष्टि का संघ है, जिसे वीतराग प्रभु का शासन भी कह सकते हैं। ऐसे संघ की शक्ति का जो संचय किया जाता है, वह संचय मानव मात्र के ही क्या, प्राणी मात्र के कल्याण के लिये होता है। इस संघ के अन्दर जिस प्रकार के नैतिक एवं समदृष्टि वाले निर्देश हैं, वे आध्यात्मिक जीवन की ज्योति को प्रज्ज्वलित वनाने वाले हैं तथा इसी प्रकाश से वे जन-जन के मानस को आलोकित करने वाले हैं।

ज्योति चतुर्विध संघ के संगठन की

प्रत्येक मानव अपने अन्तःकरण में व्याप्त अंधकार को इस चतुर्विध संघ की ज्योति के माध्यम से दूर कर सकता है तथा आत्म-जागृति की लक्ष्य-

पूर्ति के हित अपनी साधना को सशक्त बना सकता है। इस संघ में सभी तरह के लोग सम्मिलित हो सकते हैं जो अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कार्य संचालन करते हैं। वे सभी अपनी-अपनी योग्यता के आधार पर संगठन के अभिन्न अंग बन जाते हैं।

संगठन की शक्ति के आधार पर कौन-सा श्रेष्ठ लक्ष्य पूरा नहीं किया जा सकता है? इस चतुर्विध संघ के बल पर सारे विश्व में समता के विचार और व्यवहार का त्वरित प्रचार एवं प्रसार किया जा सकता है। आप इस संघ-संगठन के माहात्म्य को समझ कर जीवन के क्षेत्र में अपनी-अपनी स्थिति के साथ यदि उसे सम्यक् प्रकार से जोड़ने का प्रयास करें तो संघ की सार्थक वास्तविकता भी प्रकाशित हो सकेगी तथा सघ आत्म-जागृति के कठिन कार्य को भी पुरुषार्थमय बनाने की प्रेरणा दे सकेगा।

चतुर्विध संघ के संगठन की यह ज्योति पिछले लगभग अढाई हजार वर्ष से देदीप्यमान हो रही है। काल-प्रवाह से संगठन की शक्ति में उतार-चढ़ाव आये हैं तथा आज यह अनुभव किया जा सकता है कि वह शक्ति काफी शिथिल बनती जा रही है। किन्तु यदि आज भी जितने साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाएं विद्यमान हैं तथा वे भव्य आत्माएं जो अपने जीवन का उत्सर्ग करने के लिये तत्पर हो रही हैं, वे अपने मन-भेद को एक ओर रख कर समन्वयात्मक दृष्टि से अपने जीवन एवं संघ की स्थिति को सन्तुलित तथा सुदृढ़ बनाने का प्रयास करें तो संघ अपनी नियमित प्रगति के साथ अपनी ज्योति को अधिकाधिक प्रकाशित कर सकेगा। सघ एक-एक तार को जोड़ कर समूह को इस तरह उभारता है कि दीपक से दीपक जलाया जा सके—एक एक के सहयोग से दूसरों को सामूहिक सम्बल देने का कार्य संघ-शक्ति के सहयोग से ही संभव बन सकता है।

संघ सजाव पिंड के समान

आप सोचते होंगे कि यह ऐसा संघ है—संगठन है— समूह है, जहां केवल आध्यात्मिक साधना के लिये साधु बनने का कार्य मात्र होता है, किन्तु संघ का कार्य चहुंमुखी होता है। यह संघ एक दूसरे की हमदर्दी के साथ, एक दूसरे के साथ स्नेह एवं सहयोग का तांता जोड़ते हुए आत्मीय सम्बन्धों से चलने का निर्देश देता है। यह स्नेह और सहयोग का आत्मीय सम्बन्ध संगठन की गति को आत्मीय जागृति की ओर मोड़ता है। संघ शक्ति के साथ चलना व्यक्ति की शक्ति को अभिवृद्ध बना देता है। साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप यह चतुर्विध संघ एक प्रकार से सबको संगठन के अंतर्गत ले आता है।

प्रत्येक व्यक्ति संघ की इकाई है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य कर सकता है और जीवन को समुन्नत बना सकता है।

संघ की स्थिति की तुलना सजीव पिंड के साथ की जा सकती है। इस शरीर के ढांचे में जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, उनमें एक तत्त्व सामान्य है। पांच इन्द्रियों का समूह इस शरीर-पिंड के साथ रहा हुआ है और इनकी पृष्ठ-भूमिका में मन और आत्म-तत्त्व का संचालन होता है। आत्म-तत्त्व अपने प्रकाश के साथ इस शरीर के संघ को व्यवस्थित रूप से चला रहा है। इस शरीर रूपी संघ की व्यवस्था को देख कर यदि भगवान् महावीर के चतुर्विध संघ को संचालित किया जावे तो वीतराग देव की वाणी का प्रचार और प्रसार एवं आत्म-जागृति का कार्य संतोषजनक रीति से किया जा सकता है। शरीर के विभिन्न अंग और उपांग जब समन्वय और सहयोग के साथ संगठित अवस्था में कार्य करते हैं तो उस कार्य पद्धति से संघ के संगठन की प्रेरणा की जा सकती है।

समन्वय और समभाव का सञ्चार

संघ की संचालन पद्धति को समझने के लिये इस शरीर के ढांचे को समझ लीजिये। इसमें सभी प्रकार के अग होते हैं। जहां विचार करने का प्रश्न है तो मस्तिष्क सभी प्रकार के विचारों एवं विविध कलाओं का केंद्र होता है। इस अंग में गति, विगति या प्रगति की क्षमता होती है। शरीर में जहां ऊपर मस्तिष्क है, वहां पेट का हिस्सा भी जुड़ा हुआ होता है। इस की मदद करने के लिये दोनों भुजाएं इसके साथ हैं। फिर देखिये, नीचे के हिस्से में कौन हैं? नीचे के हिस्से में पैर हैं जो सारे शरीर को अपने आधार पर टिकाए रखते हैं।

इसी रूप में आप देखिये इस संघ की व्यवस्था को। इस शरीर के अंदर रहने वाले ये जितने भी महत्वपूर्ण अग हैं, इनमें समन्वय और समभाव का कैसा संचार है? ये अंग किन-किन की अपेक्षा रख कर चल रहें हैं? सामान्यतया सुचारु संचालन की अवस्था में इनमें किसी विकृति का विशेष प्रसार नहीं होता है। एक व्यक्ति अपने विचारों में यत्किंचित् विकृति भले ही ले आवे, परतु अंगों के साथ वह विषमता का वर्ताव नहीं कर सकता है। दीखने की दृष्टि से यद्यपि सिर ऊपर दीखता है, परंतु सिर की हमदर्दी और उसका सहयोग सारे शरीर के अंदर व्याप्त होता है। जो जमीन पर चलने वाले पैर हैं, उनके साथ भी सिर सदा समता का वर्ताव करता है। सिर यह नहीं सोचता कि मैं सबसे ऊपर हूं तो नीचे के अंगों की परवाह क्यों करूं? पैर

तो सबसे नीचे होते हैं, अशुचि में भी चलते हैं तो उनकी रक्षा का उपाय क्यों करूं या हाथों का उपयोग क्यों करूं अथवा पेट को शक्ति क्यों दूं ? ऐसी विचारणा मस्तिष्क में नहीं उठती है। यदि मस्तिष्क ऐसा चिंतन करने लग जाय तो इस शरीर के सारे ढांचे का रूपक ही बिगड़ सकता है। किंतु मस्तिष्क समभाव और सहयोग की दृष्टि से कार्य करता है तभी शरीर की संगठित गतिशीलता चल पाती है।

संगठित सहयोग की स्थिति

शरीर के ढांचे में संगठित सहयोग की स्थिति ऐसी होती है कि ज्यों ही अन्दर किसी भी भाग में कोई गड़बड़ पैदा होती है तो सब से पहले मस्तिष्क अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है। सीने में दर्द हुआ तो वह अपने यंत्र को वहीं केन्द्रित कर देगा। पीठ या पेट में दर्द हुआ तब भी वह अपनी शक्ति को लगाने में देरी नहीं करेगा। और तो दूर रहा, परन्तु यदि पैर में भी कांटा लग गया और पैर अशुचि से भरा हुआ भी रहा तब भी समभाव के साथ मस्तिष्क कार्यरत होकर आँखों और हाथ को आज्ञा देगा कि वे देख कर तुरन्त कांटे को बाहर निकालें। इस प्रकार मस्तिष्क की वैचारिकता, हाथों की सेवा और सहायता, पेट के उत्तरदायित्व आदि सभी के समन्वित सहयोग से शरीर संघ की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है।

यह ऐसी व्यवस्था है कि सिर भी जिम्मेदारी से काम करता है तो नीचे के अंग भी अपने-अपने स्थान पर रहते हुए अपने कर्त्तव्य को नहीं भूलते हैं। जब कभी सिर को मच्छर काटता है तो हाथ फौरन वहां पहुंच कर अपनी सेवा करता है। मस्तिष्क जब कभी थक जाता है और ताजगी पाना चाहता है तो पैर उसकी थकान दूर करने के लिये उसे घुमाने ले जाते हैं। इस सिर को अपने ऊपर रख कर नीचे के अंग उसकी भलीभांति सेवा करते हैं क्योंकि सिर ऊपर रहते हुए भी अपने को ऊपर नहीं मान कर समभाव के साथ पैरों की भी पूरी सेवा करता है। ऐसी ही सौहार्द्रपूर्ण संगठित सहयोग की स्थिति होती है।

संघ व्यवस्था पर चिन्तन की आवश्यकता

इस स्थिति को ध्यान में रख कर चतुर्विध संघ की सुव्यवस्था पर चिन्तन की आवश्यकता है। एक-एक अंग के एक-एक कार्य का अपने जीवन में चिन्तन करें तथा उससे समुचित शिक्षा लेने का प्रयास करें तो सारी सामाजिक विषमताओं को आप दूर कर सकते हैं। सामाजिक दृष्टि से भी मेरे भाई जो प्राचीन काल को लेकर वर्ण व्यवस्था पर सोचते हैं और वर्तमान के साँचे

उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ते हैं, वे ही अधिकांशत: चारों वर्णों के बीच में विषमता की दीवारें खड़ी करते हैं । आज वर्ण-व्यवस्था को सही ढंग से कहां निभा रहे हैं ?

आज भी ससार में संघ या संगठनों का जो निर्माण किया जाता है, वह किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही किया जाता है। और संगठनों को आप न भी जानते हों, किन्तु राजनैतिक धरातल पर बनने वाली पार्टियों से तो आप परिचित होंगे ही । इन पार्टियों में भी जब विषमता आती है तब इनका संचालन खंड-विखंड होने लगता है । कोई भी सगठन तभी टिकता है जब उसका उद्देश्य स्पष्ट हो तथा समक्ष रहे एवं समन्वय व सहयोग की भावना क्रियाशील बनी रहे । संगठन की सफलता के लिये समभाव का तांता अवश्य ही बना रहना चाहिये ।

इस चतुर्विध संघ में भी जितने भाई-बहिनें हैं, उनमें से चाहे कोई अध्यक्ष रहे, अन्य पदाधिकारी रहे अथवा साधारण सदस्य रहे, वे सभी एक दूसरे को साथ लेकर चलें एवं स्नेह व सहयोग का परस्पर सद्भाव रखें तभी संघ सुव्यवस्थित एवं सुगठित रूप से चल सकता है । जब राजनीतिक अथवा आर्थिक संगठनों के सुचारू संचालन के लिये भी समन्वय और सहयोग की पूरी-पूरी आवश्यकता होती है तो यह हमारा चतुर्विध संघ तो एक ऐसा आध्यात्मिक संगठन, जिसमें आन्तरिक समभाव की भी आवश्यकता होती है ।

चतुर्विध संघ तो आध्यात्मिक समस्याओं को हल करने का संघ है। वीतराग देव ने इस संघ का निर्माण ही इस उद्देश्य से किया है, अतः सब अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने कर्त्तव्यों के बारे में गंभीरता से सोचें तथा निश्चय करें कि किस श्रेणी में किस-किस योग्यता के साथ किन-किन कर्त्तव्यों का पालन करना है तो ऊपर-नीचे के सब अंग समभाव से एवं संगठित रूप से कार्य करते हुए सघ को सुव्यवस्थित तथा सुदृढ़ बना सकते हैं ।

कार्य योग्यतानुसार किन्तु व्यवहार समता का

संघ के अनुशासन में रहते हुए सभी अपनी श्रेणी एवं योग्यता के अनुसार कार्य करें । जो नीचे के अंग हैं तो नीचे से काम करें, परन्तु यह नहीं हो कि विषमता के व्यवहार के साथ छोटे अंग की उपेक्षा की जाय । जहां जिस अंग के कार्य करने की क्षमता हो, वहां भी उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये । प्रत्येक की योग्यता के अनुसार कार्य दिया जावे या उससे कार्य लिया जावे किन्तु सबके साथ व्यवहार समतापूर्ण होना चाहिये । समता का व्यवहार नहीं होने की दशा में संघ का सुगठित संचालन कठिन हो जाता है ।

इस कारण संघ के अग्रगण्यों को समझना है कि हम सिर पर रहें किन्तु हमारे जो साथी हैं उनके साथ समता का वर्ताव करें। हम उन्हें ठोकर नहीं मारें, उनका तिरस्कार नहीं करें या किसी प्रकार की विषमता उनके साथ नहीं वरतें—ऐसा मानस उनका वनना चाहिये। अग्रगण्यों के नेतृत्त्व में चलने वाले संघ के सहयोगी साथियों को भी सोचना चाहिये कि वे संघ के अगुआओं की आज्ञा में चलें और परस्पर ईर्ष्या तथा राग-द्वेष की परिणतियों की अवस्था को न आने दें। ऐसी परिणतियों के आने पर कर्त्तव्यपालन ठीक तरह से नहीं हो सकता है।

आज संघ के अन्दर रहते हुए भाई-वहिन जिस तरह से सोचते हैं, उस सोचने में भी अन्तर लाने की आवश्यकता है। आज के सोचने में जो विषमताएं हैं, उन्हें दूर करना होगा। यह सोचना समता-भाव से होना चाहिये—व्यक्तिगत द्वेष-विद्वेष की भावना से नहीं। जब इस प्रकार के सोचने का क्रम सामूहिक रूप से चलने लगेगा तो उसका असर निश्चय ही व्यवहार में भी उतरेगा—तव व्यवहार भी समतामय वनेगा। कार्य और व्यवहार में जब समपमता आ जायगी तो फिर संघ की चहुँमुखी उन्नति में कोई व्यवधान नहीं रह जायगा।

संघसेवा से अपूर्व आनन्द

सच्चे हृदय एवं आन्तरिकता से की जाय तो संघ-सेवा से अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। आज कुछ खुशी का प्रसंग उपस्थित है, परन्तु यह खुशी मुझे खुशी नहीं लग रही है। अन्तःकरण में खुशी हो, तभी आनन्द आता है और यह तभी हो सकता है जब सर्वतोमुखी आध्यात्मिक उन्नति के लक्ष्य को सामने रख कर आत्मीय भावना से संघ का संचालन किया जाय और संघ की सेवा की जाय। आत्मीय भावना का तात्पर्य यह है कि सब अपने-अपने उत्तरदायित्वों का वहन करते हुए अपने-अपने पद अथवा स्थान पर ईमानदारी से चतुर्विध संघ की सेवा का परिचय दें और जब समय या अन्य सहयोग देने की आवश्यकता हो तो वैसा सहयोग दें।

संघ-सेवा, स्नेह, समन्वय व समभाव के साथ सहयोग का जो उल्लेख किया गया है, उसमें सभी प्रकार के संभव सहयोगों का समावेश हो जाता है। यह सहयोग चाहे तन से हो, मन से हो अथवा अन्यथा हो—सभी प्रकार के सहयोग के लिये संघ के प्रत्येक सदस्य की तैयारी होनी चाहिये। जहां संघ के लिये बौद्धिक शक्ति की आवश्यकता हो तो बुद्धि को विना संकोच उसके लिये तैयार रखना चाहिये। यदि संघ-सेवा की ऐसी उग्र भावना वनाई जाय

तो निश्चय ही वैसी सेवा से अपूर्व आनन्द की उपलब्धि हो सकेगी तथा संघ के माध्यम से सबकी सामूहिक आत्म-जागृति भी त्वरित गति से सम्पादित होने लगेगी ।

चतुर्विध संघ का समतामय धरातल

चतुर्विध संघ के धरातल एवं स्वरूप पर भी आपको चिन्तन करना चाहिये । हम सबके सब जो भगवन् महावीर के अनुयायी हैं, किसी एक जाति सम्प्रदाय या दल के नहीं थे और जो महावीर ने इस चतुर्विध संघ का निर्माण किया, वह भी शुद्ध मानवीय धरातल पर ही किया था । यदि समता के ऐसे धरातल पर हमारा भी जीवन आरूढ़ हो जाय और वह चतुर्विध संघ के रूप में इस प्रकार से निखरे कि दुनिया इसकी तरफ आकर्षित हो जाय, तभी समता का स्वरूप भी निखर सकता है । दुनिया यह कहने लगे कि यह संघ क्या है, प्राणी-मात्र की उन्नति का कल्याण केन्द्र है—तब समझना चाहिये कि चतुर्विध संघ का समतामय धरातल सफल बन गया है ।

ऐसे समतामय धरातल को बनाने के लिये संघ के सदस्यों में संघ-सेवा की होड़ लगनी चाहिये और उनके कार्य-कलाप एकता के सूत्र में इस प्रकार आबद्ध हों जैसे कि माला के मनके एक सूत्र में पिरोये हुए होते हैं । इस प्रकार की भावना जब संघ के चारों अंगों में फैल जाय तो संघ का संगठन सुदृढ़ हुए बिना नहीं रहेगा ।

एकता में सफलता का रहस्य

साधना के पथ पर स्वस्थ गति से चलने के लिये सहयोग की जरूरत होती है और यह सहयोग आत्मीय भाव के साथ जितना एकता में आबद्ध होता है, उतनी ही सफलता सुनिश्चित बनती है । जब साधना में सहयोगियों के सहारे की जरूरत पड़ती है तो यह सोचना होगा कि सहयोगी कैसे हों ? सिर के तुल्य, भुजा या पेट के तुल्य अथवा पैरों के तुल्य हों ? सहयोगी सभी प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं किन्तु प्रमुख आवश्यकता यह है कि सभी में एकता हो और स्नेहपूर्ण समता हो ।

जिस व्यक्ति की जैसी भी योग्यता हो, उसके अनुसार वह अपनी शक्ति को संघ की एकता और सेवा में लगावे । मस्तिष्क रूप जो अगुआ हों, उनका कर्त्तव्य हो जाता है कि वे नीचे से नीचे व्यक्ति का भी स्नेह सम्पादित करें तो पैर रूप नीचे के अंगों का भी कर्त्तव्य होता है कि वे मस्तिष्क की आज्ञा के बिना इधर-उधर चरण नहीं रखें ।

एक श्रद्धा, एक प्ररूपणा, एक फरसना, एक आवाज, एक दृष्टि और

एक रास्ते के सिद्धान्त को यदि कोई संघ अपनाता है तो वह सब कुछ कर सकता है। आपकी पानी की तरह गति बननी चाहिये। पानी अपनी एक धारा में बहता है और उसके बीच में कभी चट्टान आ जाती है, लेकिन पानी उससे हार खाकर पीछे नहीं हटता है। वह चट्टान से घबराता नहीं है, चट्टान ही उससे हार जाती है क्योंकि पानी चट्टान से लड़ता नहीं है, बल्कि अपनी कोमलता से उसको भी पानी बना देता है। तब उस चट्टान में से भी वह अपनी राह बना लेता है। संघ में भी ऐसी ही गति आनी चाहिये। संघ के संचालन में कई कठिनाइयां आ सकती हैं किन्तु संचालकों को अपनी कोमलता से दूसरों का हृदय जीतते हुए उन्नति के मार्ग को निष्कंटक बनाना चाहिये।

संघ की सुदृढ़ता के लिये संचालकों को भी संघ की एकता का बल मिलना चाहिये, तभी वे व्यक्ति एवं समाज के स्वस्थ जीवन की खोज में सहायक बन सकते हैं। संघ का उद्देश्य ही यह होता है कि आत्म-जागृति का मंत्र सब तक पहुंचाया जाय और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही संघ के संगठन में एकता एवं समरसता की सर्वाधिक आवश्यकता होती है।

क्रान्तिकारी चरण आगे बढ़ते रहें।

आज द्वितीया के प्रसंग से स्वर्गीय आचार्य श्री के आदर्श-जीवन से सबको प्रेरणा लेनी चाहिये। वे संघ के आधार-स्तम्भ थे और उन्होंने इस दिशा में जो क्रान्तिकारी चरण उठाया और जो उत्तरदायित्व हम सब पर डाला है—उस जागृति की मशाल को लेकर सभी आगे बढ़ें तथा तन, मन, वचन आदि की शक्ति के साथ उस ज्योति को प्रज्वलित रखें तो संघ की सुव्यवस्था श्रेष्ठतम बन सकेगी। मूल आवश्यकता यह है कि क्रान्तिकारी चरण निरन्तर आगे बढ़ते रहें और उनकी गति में किसी भी प्रकार से शिथिलता नहीं आये।

यह संघ का ही माहात्म्य है कि सोनावत परिवार की तरह मुमुक्षु-जन अपने जीवन में त्याग को गहरा बनाते हैं और संघ की जड़ों को मजबूत करते हैं। जो बहिनें कभी पर्दे के पीछे बैठने वाली थीं, वे जब दीक्षित होकर जीवन में आगे बढ़ीं तो आज महासतियों के रूप में वीतराग वाणी का प्राभाविक रूप से प्रचार कर रही हैं। साधना का यह रूप संघ के सहयोग से ही निखरता है, अतः यह न भूलें कि संघ को निरन्तर क्रियाशील बनाये रखने के लिये स्नेह, सहानुभूति, समभाव एवं सहयोग का धरातल सुदृढ़ बनाना ही होगा और इसके साथ क्रान्तिकारी कार्यक्रम अपनाने होंगे, तभी चतुर्विध संघ एक सच्चा आध्यात्मिक संघ बना रह सकेगा।

दीक्षा की स्वस्थ परम्पराएं



चौदहवां प्रवचन

दिनांक १० अक्टूबर, १९७२

प्रवचनस्थल—वाल उदान

जयपुर (राजस्थान)

"यस्य ज्ञानमनन्त वस्तुविषयं.................."

आज इस जयपुर नगर के प्रांगण में यह तीसरी भागवती दीक्षा का प्रसंग उपस्थित हो रहा है। ये जो दीक्षाएं होती हैं, वे सभी प्रभु महावीर के शासन के अन्तरपेटे में ही मानी जानी चाहिये। यद्यपि दीक्षा देने का कार्य माध्यम की दृष्टि से किया जा रहा है परन्तु ध्यान में रखने की बात है कि ये दीक्षाएं किसी व्यक्ति-विशेष की थाती नहीं है। ये तो वीतराग देव के शासन की थाती-रूप होती हैं। कभी कुछ भाई सोचते होंगे कि ये दीक्षाएं अमुक व्यक्ति के पास हो रही हैं तो मैं स्पष्ट कर दूं कि जिस व्यक्ति को आप अपने सामने देखते हैं, वह तो एक माध्यम है— दीक्षाएं महावीर के शासन के अन्तर्गत ही मानी जायं। महावीर प्रभु का चतुर्विध संघ जिसमें साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चारों तीर्थों का संगम होता है—एक ऐसा आध्यात्मिक परिवार है— संगठन है, जो पारस्परिक सहयोग से आत्म-जागृति के पथ पर अग्रसर होता है।

चतुर्विध संघ में श्रावक-श्राविकाएं भी हैं तो साधु-साध्वियां भी। इसलिये दीक्षा लेने के फलस्वरूप समुन्नत श्रेणी में ऊपर चढ़ना अवश्य होता हैं किन्तु संघ तो वही रहता है और महावीर का शासन उसी प्रकार मार्ग-दर्शन करता है। अपनी-अपनी श्रेणी में महावीर के निर्देश उसी प्रकार अनुपालनीय रहते हैं। अतः यह तथ्य स्पष्ट हो जाना चाहिये कि सभी महावीर के शासन में हैं, उनके चतुर्विध संघ के सदस्य हैं तथा माध्यम के द्वारा दीक्षाएं सम्पन्न होने के बाद भी महावीर के शासन की स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

दीक्षा : त्याग-मार्ग की प्रतीक

यह दीक्षाओं का प्रसंग प्रभु महावीर के त्याग-मार्ग का स्मरण कराता है। वर्तमान युग में देखा जाय तो कई तरुण और तरुणियां त्याग-मार्ग की विपरीत दिशा में गमन कर रहे हैं—भोग को ही उन्होंने जीवन का लक्ष्य मान लिया है। पश्चिम की संस्कृति का इस देश पर भी इतना असर पड़ता जा रहा है कि हिप्पियों की तरह यहां का युवा-वर्ग भी न जाने कैसे-कैसे प्रयोग करने

लगा है और अपने देश की बलिदानी संस्कृति को भूलता जा रहा है । जिस देश का युवा-वर्ग ही भोग को अपने जीवन में रमा लेने की कुचेष्टा में लग जाय तो कैसे कल्पना करेंगे कि उस देश में मानवीय गुणों का प्रसार हो सकेगा ?

किन्तु यह भी सत्य है कि भारत की दार्शनिक संस्कृति का प्रभाव भी अमिट है । महावीर की इस भागवती-दीक्षा को ही देखिये —यह त्याग-मार्ग की प्रतीक है और इस समय जिन तरुण एवं तरुणियों को इस त्याग-मार्ग पर आरूढ़ होने हेतु आप तत्पर देख रहे हैं, उनके जीवन में भी प्रभु महावीर के शासन के प्रति एक घनिष्ठ निष्ठा के भाव जागृत हो गये हैं । निष्ठा के ये भाव इनकी आकृतियों पर आपके सामने अभिव्यक्त हो रहे हैं ।

दीक्षा की स्वस्थ परम्पराएं

यह सर्वविदित है कि काल-प्रवाह में महावीर के शासन में ही कई सम्प्रदायों एवं उप-सम्प्रदायों ने जन्म ले लिया और इसी कारण दीक्षा की स्वस्थ परम्परा स्थापित करने के सम्बन्ध में यह विचार चला कि नई दीक्षाएं अलग-अलग साधु-साध्वियों की नेश्राय में न होकर तीसरे पद (आचार्य) की एक ही नेश्राय में हों ताकि संघ की एकता में विभेद उत्पन्न न हो ।

आपको स्मरण होगा कि वृहद् सादड़ी सम्मेलन में जबकि देश भर के अधिकांश संत-सती वर्ग एकत्रित हुए थे और संगठनात्मक रूप में आये थे, तब यह चिन्तन चला था कि संघ में फैली विभिन्नताओं को कैसे समाप्त किया जाय ? तब सारे विचार-विमर्श का यही निष्कर्ष सामने आया था कि दीक्षा की परम्परा में स्वस्थ परिवर्तन लाया जाय । इस अलग-अलग शिष्य-परम्परा का जब तक समुचित समाधान नहीं होगा, तब तक जिन-शासन की एकता सुन्दर तरीके से नहीं बन सकेगी । तब अन्य अनेक बातों के साथ एक शिष्य-परम्परा पर बल दिया गया था । यह भी सोचा गया था कि एक ही नेतृत्व में दीक्षा, शिक्षा, प्रायश्चित्त, विहार आदि कार्य सम्पन्न हों और भिन्न-भिन्न साधु-साध्वी अलग-अलग अपनी-अपनी नेश्राय में दीक्षाएं न दें ।

एक शिष्य-परम्परा का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण

एकत्व भावना का उद्देश्य रखते हुए पंच-परमेष्ठि महामंत्र में उल्लिखित तीसरे पद के साथ दीक्षा-कार्य को संलग्न कर दिया जाय तो एक शिष्य की परम्परा के रूप में स्वस्थ वातावरण का निर्माण तो होता ही है, परन्तु एक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण की भी पूर्ति होती है और यह सिद्धान्त है एकता का, संगठन का किसी भी संघ की एकता एवं संगठनात्मक सुव्यवस्था के लिये यह

आवश्यक है कि उसका अनुशासन कठोर हो, अनुप्रेरक हो तथा गतिशील हो, उसमें उच्छृंखलता के बढ़ने की गुंजाइश न हो । एक शिष्य की परम्परा से आचार्य का व्यवस्था-क्रम अधिक अनुशासनबद्ध हो जाता है तथा संघ की एकता को बल मिलता है ।

सादड़ी सम्मेलन में सिद्धान्त की दृष्टि से यह एक सिद्धान्त भावात्मक स्थिति से जनमानस के समक्ष आया था । इस सिद्धान्त पर व्यापक रूप से विचारणा भी चली, परन्तु सारे समूह के बीच में इसे पूर्णतः मूर्त रूप देने की स्थिति नहीं आ रही थी । तब स्व० आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. ने यह सोचा कि इस सम्मेलन में मेरे नेतृत्व में विचार-विमर्श-रूप में ही सही—जिन सिद्धान्तों एवं नियमोपनियमों का संकलन हुआ है, मेरे जीवनकाल में यदि श्रमण-श्रमणी-वर्ग अपने आचरण में उन सिद्धान्तों एवं नियमोपनियमों को मूर्त रूप दे दें तो मेरा स्वप्न साकार हो जाय । इसके लिये उन्होंने अथक प्रयास भी किया और संघ के तत्कालीन वातावरण में अपने मान-अपमान की परवाह किये वगैरह स्व. आचार्य श्री ने सर्वत्र स्पष्ट किया कि एक शिष्य-परम्परा की स्थापना के बिना स्थायी एकता का उदय नहीं हो सकेगा । परन्तु समय का प्रवाह कहिये या अन्य कारण सोचिये, उस बड़े समूह के रूप में इस स्वस्थ परम्परा का श्रीगणेश नहीं हो पाया—जो भावात्मक स्वरूप बना था, उसका व्यावहारिक रूप नहीं ढल पाया।

स्व० आचार्य श्री संकल्प-शक्ति के धनी थे

आप जानते हैं कि अपने भद्रिक परिणामों के साथ स्व. आचार्य श्री संकल्प शक्ति के धनी थे । उन्होंने सोचा कि छोटे रूप से ही व्यापक रूप बनता है, अतः यदि मेरे जीवन के अन्दर ही सादड़ी-सम्मेलन के शुभ निश्चयों को साकार रूप दे दिया जाय तो भावी स्थिति सरल बन जायेगी । इस दृष्टि से उन्होंने सब सन्तों से सलाह मिलाई और सब दरवाजे खुले रख कर भावात्मक सावधानी दिलाते हुए स्पष्ट घोषणा की कि जिस समय भी सादड़ी-सम्मेलन के सर्वांगीण प्रस्तावों का व्यावहारिक रूप श्रमण-वर्ग में आ जायेगा तो उस एकता के क्षेत्र में एक रूप होने के लिये मैं तत्पर रहूंगा और मेरे सारे सन्त तत्पर रहेंगे । यह घोषणा आज भी लिखित रूप में निवेदन-पत्रिका में विद्यमान है और उन्हीं भावों को अपने सामने रखते हुए मैं दीक्षा की स्वस्थ परम्पराओं एवं संघ की एकता के बारे में आपको कुछ बता रहा हूं ।

स्व० आचार्यश्री ने इस घोषणा के अनुरूप जितने साधु–साध्वी, श्रावक–श्राविका इन सिद्धान्तों तथा नियमोपनियमों से अपने आपको संलग्न

बनाना चाहते थे, उन्हें यह निर्देश दिया कि अब भविष्य में जो भी नई दीक्षा होगी, वह तीसरे पद (आचार्य) के माध्यम से एक नेतृत्व में हो और सभी दीक्षित एक आचार्य की नेश्राय और आज्ञा में ही चलें। उन्होंने फरमाया था कि तीसरा पद स्थायी होता है। व्यक्ति तो आता है और चला जाता है परन्तु आचार्य का पद सदा काल विद्यमान रहता है। यह स्व० आचार्यश्री की संकल्प-शक्ति का ही प्रभाव था कि उन्होंने सादड़ी-सम्मेलन के प्रस्तावों को अमली रूप दिया तथा एकता के लिये अपनी व्यावहारिक तत्परता प्रदर्शित की।

शासन और अनुशासन का महत्त्व

चतुर्विध संघ पर भगवान् महावीर का शासन है तथा उसका अनुशासन आचार्य चलाते आये हैं—यह सैद्धान्तिक परम्परा है। इसी परम्परा के अन्तर्गत स्व० आचार्यश्री के निर्देशानुसार इन दीक्षाओं का व्यावहारिक रूप आपके सामने आ रहा है। ये दीक्षाएं जितनी हो चुकी हैं और जो हो रही हैं, वे सभी तीसरे पद के प्रति निष्ठा की दीक्षाएं हैं। ये सभी तन, मन, जीवन की स्थिति से वीर प्रभु के शासन को दिपाने की दृष्टि से जुटने की तैयारी कर रहे हैं। शासन और अनुशासन का यही महत्त्व होता है कि एक विचारधारा को हृदयंगम करते हुए ज्ञान और क्रिया के क्षेत्र में कठोरतापूर्वक प्रगति की जाय, जिससे आत्म-जागृति के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके।

आज जिनकी दीक्षाएं हो रही हैं, उनके अलावा भी जिन मुमुक्षु आत्माओं को—दीक्षार्थी भाई-बहिनों को आप देख रहे हैं, वे भी इसी उग्र भाव से शासन की सेवा करने के लिये लालायित हो रहे हैं और भविष्य में एक दीक्षा परम्परा के क्रम में जुड़ने को तत्पर हो रहे हैं। शासन और अनुशासन को दृष्टि में रखते हुए तथा स्व० आचार्यश्री के निर्देश की पालना में इस एक-शिष्य परम्परा को इसी कारण सुदृढ़ बनाया जा रहा है कि संघ की एकता का सूत्र सुदृढ़ बना रहे। भावनात्मक एवं व्यावहारिक पक्ष को यदि निरन्तर मजबूत बनाते रहें तो व्यापक पैमाने पर एकता का उद्देश्य भी एक दिन पूरा होकर रहेगा।

दीक्षा हेतु आज्ञा-दान की परम्परा

वीर प्रभु के शासन के अन्तर्गत यह दीक्षा-परम्परा का सिलसिला, जो आपके सामने आ रहा है, उसके दीक्षार्थी हैं, निकूंभ (जिला चित्तौड़गढ़) निवासी भाई भंवरलाल जी सहलोत। इनके माता, पिता, भाई, सम्बन्धी एवं निकूंभ संघ के लोग प्राय: यहां उपस्थित हैं। संसार की दृष्टि से कंवरमुनि जी

इनके काकाजी हैं। एक लम्बे अर्से से भंवरलाल जी की भावना इस ओर लगी और उन्होंने इस अर्से में अध्ययन आदि किया तथा आज इनके लिये मुनि-भाव को साकार रूप देने का प्रसंग आ रहा है।

दीक्षा हेतु आज्ञा-दान की भी एक स्वस्थ परम्परा है और उसका पालन विचारपूर्वक होना चाहिये। अतः दीक्षा के पूर्व सबसे पहले मैं भंवरलाल जी को चेताना चाहता हूं कि वे अपने इस संकल्प को दृढ़ बना लें कि एक आचार्य के नेतृत्व में तदनुरूप संयम-साधना करते हुए वीर प्रभु के शासन की सेवा में अपने आपको निष्ठापूर्वक लगाना होगा। कठिन परिषह भी सामने आवें, तब भी हर्षपूर्वक अडिगता से उन्हें सहना पड़ेगा। यह सारी तैयारी इस समय होनी चाहिये।

यद्यपि भंवरलाल जी के माता-पिता आदि का लिखित आज्ञा-पत्र आ चुका है, फिर भी इस वेला में मैं एक बार और पूछना चाहता हूं कि उन्हें दीक्षा का प्रत्याख्यान कराने में उनकी अनुमति है? (स्वीकारात्मक स्वर) इन के साथ जयपुर-संघ के अध्यक्ष, मंत्री आदि कार्यकर्त्ताओं से भी दीक्षा की अनुमति चाहता हूं। (स्वीकारात्मक स्वर) साधारण रूप से जयपुर नगर के प्रशासनिक पदाधिकारियों एवं नागरिकों से भी मैं इस दीक्षा के लिये अनुमति मांगता हूं। (उपस्थितों का सामूहिक स्वीकारात्मक स्वर) अब मैं अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ के अध्यक्ष, मंत्री आदि अन्य प्रतिनिधियों से भी इस दीक्षा की आज्ञा की मांग करता हूं। (स्वीकारात्मक स्वर) अब मैं समस्त दर्शक जनता से अपनी सम्मति प्रकट करने के लिये अपने हाथ ऊपर उठाने का आग्रह करता हूं। (सब ने अपने हाथ ऊपर उठाये)।

अब मैं यह मानता हूं कि सभी पक्षों ने इस दीक्षा के हेतु अपनी आज्ञा एवं सहमति प्रदान कर दी है। यह सारा कार्य महावीर के शासन का है तथा यह भी ध्यान रखिये कि आपने यह आज्ञा किसी व्यक्ति को नहीं दी है, बल्कि यह वीतराग देव के शासन में प्रवेश करने वाली महान् आत्माओं के प्रति अपनी आज्ञा दी है। इस तरह एक पुण्य कार्य में आपने हाथ बंटाया है।

दीक्षा देने की मार्मिक प्रक्रिया

दीक्षा के प्रसंग से ही आप लोगों ने अपनी सांसारिक गतिविधि से जो प्रक्रिया चलाई होगी, उसे आप लोग जानें तथा जो रीति-रस्म आप करना चाहें, उसका अवसर आप देख सकते हैं। (परिवार एवं संघ के अनेक व्यक्ति दीक्षार्थी को चादरें ओढ़ाते हैं।) दीक्षार्थी को जो ये चादरें ओढ़ाई गई हैं, ये सब की सब सन्त की मर्यादा की स्थिति में आने वाली नहीं हैं। अत्र मैं

यह एक हृदय-परिवर्तन का क्रम चलता है। इसमें कोई जोर-जबरदस्ती नहीं होती है। कभी-कभी भ्रान्तिवश लोग कुछ का कुछ सोच लिया करते हैं कि अमुक व्यक्ति को अमुक तरह से दीक्षा दिला रहे हैं। कभी कोई कह देता है कि पैसे की स्थिति से दीक्षा दिला रहे हैं किन्तु ऐसा कहना विवेकहीन होता है। अन्तःकरण की तैयारी के साथ ही दीक्षा लेने की भावना बनती है।

किसी भी दीक्षा में यदि किसी भाई को किसी भी प्रकार की शंका पैदा हो जाय तो उसका सब से पहला कर्त्तव्य यह होता है कि वह खास जिम्मेदार व्यक्ति से रूबरू मिले और सारी जानकारी हासिल करे—सिर्फ बाहरी बातों पर ही विश्वास करके गलत प्रोपेगेंडा न करे। इतना करने पर भी यदि उसे सन्तोष नहीं हो तब वह भले ही उस दीक्षा का विरोध करे। किन्तु अक्सर लोग सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ही अपनी गलत धारणा बना लेते है तथा ऐसे पवित्र कार्य को व्यर्थ ही में बदनाम करके कर्मबन्ध की स्थिति में गिरते हैं।

आन्तरिक जागृति के बिना दीक्षा लेना और दीक्षा लेकर उसे निभाना कोई हंसी-खेल नहीं है। संयम-साधना कितनी कष्टकर होती है—यह आप लोग भी देखते हैं तथा दीक्षार्थी भी भलीभांति देखते हैं। अतः व्यर्थ निन्दा उचित बात नहीं है।

परीक्षण से प्रगति की प्रेरणा

दीक्षाओं के सम्बन्ध में कभी ऐसे-ऐसे तथ्य भी कर्णगोचर होते हैं कि जिनका मूल नहीं और फल बता दिया जाता है। मैं ऐसे विषय पर कभी कभी सोचा करता हूं कि बाजार में जो बातें इधर-उधर बिकती हैं, वे कभी तो ठीक होती हैं मगर ज्यादातर बेठीक होती है। कभी-कभी तो ऐसा भी चल पड़ता है कि बारह हाथ की ककड़ी और तेरह हाथ का बीज है। परन्तु ऐसा बाजार कहां ठहरा हुआ होता है? वैसे मैं तो ऐसी बातों को दीक्षार्थी अथवा नव दीक्षित के लिये शुभ लक्षण ही समझता हूं कि उनके जरिये एक प्रकार से उनके परीक्षण का कार्य ही बनता है। ऐसी बेसिर-पैर की बातों से भी साधक की परीक्षा होती है कि वह कितना सहनशील है तथा प्रगति के पथ पर कितना आगे बढ़ चुका है।

ऐसा परीक्षण प्रगति के लिये प्रेरणादायक ही बनता है। फिर भी मैं इतना अवश्य ही कहना चाहता हूं कि इन दीक्षाओं के विषय में जो कुछ भी प्रसंग बना हो—उसको ध्यान में रखते हुए यथास्थान यदि कोई समाधान का प्रसंग आयेगा तो उसके लिये मैं अवश्य तत्पर रहूंगा। कोई सोचे कि महा-

राज क्या समाधान करेंगे, किन्तु मैं तो मेरी वृत्ति से जहां हूं, वहीं से स्पष्ट हूं। कोई भी मेरी चौबीसों घंटे की दिनचर्या का अवलोकन कर सकता है कि मैं व्यर्थ के विषयों में पड़ता नहीं हूं। और तो दूर रहा— जहां पर दीक्षार्थियों के मुहूर्त निकलवाने का प्रसंग आता है, उसमें भी मैं भाग नहीं लेता हूं। मैं तो यही कहता हूं कि उनके अभिभावक अथवा संघ के मुखिया लोग जैसा उचित हो, वैसा सोचें। मेरे सामने तो वेष पहिना कर खड़ा कर दोगे तो उसके शिक्षा, संस्कार व संकल्प को परख करके तथा सबकी आज्ञा प्राप्त करके उसको यथासंभव मैं दीक्षा पच्चक्खाने की भावना रखता हूं।

दीक्षाओं के प्रसंग में सभी ओर से परीक्षण की भावना रहेगी तो उससे लाभ ही होगा और साधक के मन में प्रगति की प्रेरणा अधिकाधिक बलवती बनती जायेगी।

परम्पराएं स्वस्थ बनी रहें

भागवती दीक्षा ग्रहण करने और कराने के सम्बन्ध में जितनी भी परम्पराएं शास्त्रीय दृष्टि से ढली हुई हैं— सबका यह ध्यान रखने का कर्तव्य है कि उनमें किसी भी प्रकार से विकारों का प्रवेश नहीं हो। जब तक परम्पराएं स्वस्थ बनी रहेंगी, साधक का जीवन भी निर्मल बनता रहेगा तो संघ की सुघड़ता भी निखरती रहेगी।

यही कारण है कि ये वैरागी और वैरागिनियां जब मेरे सामने आते हैं तो इस सम्बन्ध में मैं दो शब्द उनसे अवश्य कहता हूं। साधु-मर्यादा के अनुसार जो करणीय होता है, वही करता हूं तथा मैं अन्य प्रपंच में तनिक भी नहीं पड़ता हूं। मैं अपनी स्थिति को स्पष्ट बतला सकता हूं और उसमें आपको कोई भी संशय हो तो आपको अवश्य ही यथास्थान पूछ कर वस्तु-स्थिति का निर्णय निकाल लेना चाहिये। ऐसा स्पष्टीकरण किये बिना यदि आप भ्रान्तिवश चलते रहे तो ध्यान रखें कि कहीं महामोहनीय कर्म का बंध न हो जाय।

अधिकांशतः परम्पराओं पर समूचे जीवन का क्रम चलता है और जब तक परम्पराएं जीवन्त बनी रहती हैं, तब तक चाहे व्यक्ति हो अथवा संघ, उसकी गति भी संजीवनी की तरह सक्रिय रहती है। किन्तु यदि प्रमादवश अथवा अन्यथा परम्पराओं को विकृत बनने दिया गया तो वे ही परम्पराएं भावशून्य होकर रूढ़ बन जाती हैं तथा अपना प्रभाव खो देती हैं। यही कारण है कि परम्पराओं को स्वस्थ बनाये रखने की दिशा में सभी का ध्यान केन्द्रित

रहना चाहिये। जब कभी मोह, हठ या विक्षेप के भाव उग्र होते हैं तो उस समय एक तरह की ऐसी अन्धता आ जाती है कि परम्पराओं की शुद्धता का ध्यान शिथिल हो जाता है, वरना विवेकपूर्ण दृष्टि के रहते सभी परम्पराओं की श्रेष्ठता का खयाल रखते हैं।

दीक्षा चूंकि आन्तरिक जागृति के साथ सारे जीवन को एक नये सांचे में ढालती है, अतः इस की परम्पराओं की शुद्धता के सम्बन्ध में विशेष सतर्कता आवश्यक है। इस दीक्षा के प्रसंग पर दो शब्द जो मैं बोल गया हूं, सो आप ध्यान में रखें।



मोह मदिरा रूप होता है!



पन्द्रहवां प्रवचन

दिनांक ११ अक्टूबर, १९७२

प्रवचनस्थल—बाल उदान

जयपुर (राजस्थान)

"पदम प्रभु जिन तुज मुज आंतरू रे..................."

ये पद्म प्रभु की प्रार्थना की पंक्तियां हैं। प्रार्थना आत्मा से सम्बन्धित बनती है, जिस के माध्यम से अन्तर्चिन्तन की वह दिव्य शक्ति प्राप्त होती है जो अतुलनीय होती है। इस दिव्य शक्ति के बल से ही, सारे संसार का व्यवस्थित कार्य चल सकता है, बशर्ते कि यह शक्ति वास्तविक रूप से प्रकट हो। जब तक इस आन्तरिक शक्ति का आत्मा को परिज्ञान नहीं होता, तब तक जीवन में शान्ति के क्षण प्रस्फुटित नहीं होते हैं। इसी शक्ति की उपासना के लिये ही परमात्मा का ध्यान आवश्यक होता है। प्रभु इस दिव्य शक्ति के भंडार होते हैं और जब प्रार्थना के रूप में उनका ध्यान किया जाता है तो धीरे-धीरे वह अलौकिकता इस आत्मा को भी प्राप्त हो—ऐसा अटल विश्वास किया जा सकता है।

यह इसलिये कि वही दिव्य शक्ति मूल रूप में इस आत्मा में भी समाहित होती है, किन्तु उसे प्रकट करने के लिये आदर्श उदाहरण के रूप में प्रभु के स्वरूप को समक्ष रखने की आवश्यकता होती है। यदि आत्मा विवेक-ज्ञान के साथ प्रभु के ध्यान में लग जाए तो उसको यह देहात्म-भाव सरल हो जायगा, क्योंकि जब अपने को समझने की प्रक्रिया सफलतापूर्वक प्रारम्भ हो जाती है, तभी यह सत्य प्रकट होता है कि जो यह धन-वैभव के साथ लगाव चल रहा है, यश-कीर्ति के लिये भाग-दौड़ हो रही है, वह इस अमूल्य जीवन के अप-व्यय के सिवाय कुछ नहीं है। इसी अमूल्य-जीवन को यदि प्रभु की उपासना और प्रार्थना में लगाया जाय तो उस दिव्य शक्ति के साक्षात्कार के साथ इसी जीवन को अलौकिक भी बनाया जा सकता है।

आत्माज्योति के साथ संलग्नता

प्रार्थना के सबल माध्यम से जब इस अमूल्य-जीवन को आत्म-ज्योति के साथ संलग्न बनाया जाता है, तभी उस दिव्य शक्ति की दिव्यता स्पष्ट होने लगती है। तब देह और आत्मा का अन्तर भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है और यह तथ्य स्पष्ट होता है कि यह देह भी आत्मा से पृथक् है और आत्मा

की पूर्ण मुक्ति, देह–मुक्ति पर ही टिकी हुई है। इसी अन्तरावस्था को ध्यान में रख कर ज्ञानीजन "क्षणेण देहं विहाय......" के सत्य को समक्ष रखते हुए कहते हैं कि आत्म–ज्योति के साथ अपनी संलग्नता जोड़ने वाला जीवन एक क्षण के अन्दर देह के अध्यवसायों, देह के साथ लगने वाले सभी उपायों तथा देह के साथ जुड़े हुए दृष्टिगत होने वाले सभी तत्त्वों को छोड़ कर परमात्म-दशा में चला जाता है।

परमात्म-दशा आत्मा की श्रेष्ठतम अवस्था होती है और वस्तुतः यह अवस्था ही आत्मा के लिये हितावह है। जो हितावह है, उसके लिये आत्मा को सर्व प्रयास करना चाहिये। एक रूपक दिया गया है कि खदान के अन्दर सोना और पत्थर आपस में एकमेक रूप में मिले हुए रहते हैं परन्तु तीव्र अग्नि का संयोग मिल जाय तो तुरन्त वह स्वर्ण अपने देदीप्यमान अस्तित्व को बाहर ले आता है। जैसे अग्नि के ताप से स्वर्ण का वास्तविक रूप निखर आता है, वैसे ही ध्यानाग्नि के ताप से आत्मा की दिव्य शक्ति परमात्म–रूप में प्रकट हो सकती है। आत्म-ज्योति के साथ संलग्नता का ही यह शुभ परिणाम होता है।

आत्मस्वरूप की पहिचान जरूरी

परन्तु उस ध्यानाग्नि को प्रज्वलित करने के लिये आत्म-स्वरूप एवं आत्म-शक्ति की पहिचान होना जरूरी है। इस पहिचान के बिना ध्यान की वास्तविकता प्रकट नहीं हो सकती है। इस पहिचान का अर्थ है कि आत्म-शक्ति के बीच में जो आवरण आये हुए हैं— उन्हें पहिचानना और उन्हें दूर करने के उपायों पर पराक्रम दिखाना। वह शक्ति आवरण–बन्ध के नीचे दबी हुई है। यह आवरण या बंध आठ कर्मों का बताया गया है, जिनमें महाबली कर्म मोह को कहा है। इस मोहदशा से ही देहात्मभाव बनता है।

इस मोहकर्म का मूल होता है—दर्शन–मोह। दर्शन–मोह की अवस्था से जब आत्मा आच्छादित रहती है तब आत्मा अपने स्वरूप एवं अपनी शक्ति से विस्मृत होकर पर–पदार्थों में भ्रमण करती रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा अपनी वास्तविक धारा को छोड़ कर मिथ्या धारा में बहने लगती है। वैसी अवस्था में वह मानव–तन पाकर भी उसका वास्तविक महत्व अंकित नहीं कर पाती है। उस विस्मृत अवस्था में वह मनुष्य–जीवन को जीवन्त रूप में नहीं, बल्कि एक यंत्र के रूप में चलाती है। वह यंत्रवत् चलाना भी अव्य-वस्थित रूप में होता है।

अपने स्वरूप एवं शक्ति को भूली हुई आत्मा इस रूप में इस जीवन

को पौद्गलिक सुख प्राप्त करने का अव्यवस्थित यंत्र बना बैठती है। जीवन को भोग का केन्द्र बना लिया जाता है और मृगतृष्णा की तरह नाशवान् पदार्थों के पीछे इस अमूल्य मानव-जीवन को नष्ट कर दिया जाता है।

दर्शन मोह कर्म के आवरण

इस परिस्थिति के पीछे दर्शन मोह कर्म के आवरण भुलावे में डाल कर स्वरूप-स्मरण को अवरुद्ध बनाते रहते हैं। अतः इस कर्म के आवरणों को दूर हटाना होगा तथा उन कारणों से भी दूर रहना होगा जो दर्शन मोह कर्म का बंध कराते हैं। दर्शन मोह कर्म के बंधने के कारणों का उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है—

"केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य (६/१४)।

मनुष्य की अभिलाषा तो यह होती है कि वह अपनी वास्तविक आत्म-शक्ति के दर्शन करे किन्तु सत्य तत्त्व-ज्ञान के अभाव में वह कार्य ऐसे कर बैठता है, जिनसे आत्म-शक्ति का दमन होता रहता है। कोई चाहता तो यह कि वह पागल नहीं बने—बेभान नहीं होवे परन्तु पदार्थों की जानकारी नहीं रखे और तेज शराब पीले तो उसकी चेतना शक्ति दबेगी ही। कभी-कभी जानकारी के बाद भी वितृष्णा नहीं रुकती है और आदमी शराब पी लेता है, तब वह नशे में धुत्त बन जाता है। जब नशा चढ़ता है तो वह पागल भी बनता है, गन्दी नालियों में भी गिरता है और अशुचि में लथपथ भी बन जाता है।

यह मोह कर्म भी मदिरा रूप होता है। जैसी दशा आप बाहर के शराब के नशे वाले की देखते हैं, उससे भी कई गुनी प्रमत्त दशा मोहग्रस्त की होती है।

मोह मदिरा रूप होता है

अनादि काल से यह आत्मा मोह के नशे में स्वरूप-विस्मृत बनी हुई भटक रही है। मोह का नशा मिथ्यात्व मोह के साथ मूल से आबद्ध है। इस दशा में बहुतेरे मनुष्य आवेशवश ऐसे कार्य कर बैठते हैं, जिनका कुपरिणाम सामने आने पर वे पश्चात्ताप से म्लान बनते हैं। कई बार तो ऐसा होता है कि आवेश में नहीं आने का पूर्व निश्चय कर लेने के बाद भी मस्तिष्क में ऐसा नशा छा जाता है कि स्वभाव पर से नियंत्रण हट जाता है और क्रोध, मान, माया या लोभ की वृत्तियों की उलझन में मन उलझ जाता है। बाद में भले

ही पश्चात्ताप होता है कि ऐसा अकृत्य मैंने क्यों कर डाला ? अक्सर ऐसे कार्यों का परिणाम दीर्घकाल तक भोगना पड़ता है।

अतः विचारणीय विषय यह है कि यह ऐसा नशा कौन-सा है—कैसी ताकत है जो मस्तिष्क की शक्ति को कुन्द बना कर उससे अकरणीय कार्य करवा डालती है। ध्यान रखें, यह नशा कहीं बाहर से नहीं आता है। भावों का नशा जब द्रव्य के साथ संयुक्त होता है तो उसके साथ ही यह आत्मा बेभान होने लगती है और मन पर से नियंत्रण हट जाता है। तब शांति का जीवन अशांत बन जाता है। वह अशांत अवस्था मतिभ्रम पैदा कर देती है। तब आत्मा हिंसा के मार्ग को अहिंसा का मार्ग, जीव को अजीव बताती हुई विपरीत धारणाओं का पोषण करने लगती है। जब ऐसी विडम्बना आगे बढ़ती रहती है तो यह मोहग्रस्तता दीर्घ काल तक मन-मस्तिष्क और इन्द्रियों पर छा जाती है जिससे भ्रमित होकर मनुष्य केवली का—केवलज्ञानी तीर्थंकरों का अवर्णवाद बोलने लगता है।

आप जानते हैं कि तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त करके चारों तीर्थों की स्थापना करते हैं और आगमों का निर्देश करते हैं, जिनकी ज्ञानगंगा में गोते लगा कर भव्यात्माएं चारित्र के रत्न खोज निकालती हैं और अपना व संसार का उद्धार करती हैं। ऐसे शुद्ध मार्ग के प्रणेताओं के विरुद्ध अवर्णवाद बोलने का नीच कार्य मोह की मदिरा ही करवाती है और उससे निकाचित दर्शन मोह कर्म का बंध होता है। कई लोग अज्ञानवश कह देते हैं कि किसने केवली देखे हैं, संसार में केवलज्ञानी होते ही नहीं, ये सब मनघड़न्त बातें हैं, तो उन लोगों के ऐसे कथन मोह के नशे में उन्मत्त बनने के ही परिणामस्वरूप निकलते हैं। वे अपने मस्तिष्क की कुंठाओं को तो नहीं पहिचानते, किन्तु ज्ञानियों के अस्तित्व को उसी तरह नकार देते हैं, जैसे कि उल्लू अपनी आंखों का दोष तो नहीं देखता, लेकिन प्रकाश के अस्तित्व को ही नकार देता है।

स्वरूप दर्शन से कुंठाएं हटेंगी

मोह-कर्म की उन्मत्तता जब घटती है, तब समझ में आता है कि पहले जो कुछ कहा या किया गया था, वह विवेकहीन था और आत्मानुभूति से परे था। तब यह भी अनुभव होता है कि केवली के बारे में मन में जो शंकाएं उपजी थीं, वे केवली का और स्वयं की आत्मा का स्वरूप न समझ सकने के कारण उपजी थीं, जिन्हें तब दूर करने की भी वृत्ति पैदा होती है। ज्ञान की गहराई में उतर सकने की अक्षमता के कारण केवली का अवर्णवाद बोलना वैसी ही बात तब दिखाई देती है जैसे एक बौना महादुर्ग को तोड़ने के

ये अपने हाथ-पैर उछाले। अपने कुंठाग्रस्त ऐसे दुस्साहस के बाद ही बौने । अपनी और महादुर्ग की शक्ति का फर्क समझ में आता है। ऐसी कुंठाओं ो उत्पत्ति दर्शन मोह-कर्म के उदय से होती है तथा उसी कर्म के क्षयोपशम । जब स्वरूप-दर्शन की ओर रुचि बढ़ती है तो वे कुंठाएं हटती हैं और मन ाथा मस्तिष्क की गति स्वस्थ बन कर आत्माभिमुखी होती है।

एक बौना महादुर्ग को नहीं तोड़ सकता तो क्या यह सत्य हो जाता है कि वह महादुर्ग अपराजेय है? ऐसा नहीं होता। ऐसे पराक्रमशाली भी होते हैं जो उस महादुर्ग पर विजय पाते हैं, बल्कि ज्ञान के क्षेत्र का वह बौना ही जब सदाशयता से ज्ञानार्जन करना शुरु करता है तो निष्ठा के बल पर वह भी उसी पराक्रम को अर्जित कर सकता है। इसी तरह एक बालक या दुर्बल व्यक्ति एक मण भर बोझ उठाने में सक्षम न हो और वह यह निर्णय दे दे कि मैं इस बोझ को नहीं उठा सका हूं तो दुनिया में कोई भी इस बोझ को उठाने में सक्षम नहीं बन सकता है तब उसके इस निर्णय का मूल्य कितना होगा? छोटे मुंह, बड़ी बात की कहावत शायद इसीलिये बनी है कि पहले अपनी शक्ति को देखो और सही आलोचना करना सीखो।

जब किसी में इससे विपरीत वृत्ति दिखाई देती है तो यही मानना होगा कि वह मोह की मदिरा पिये हुए है और दम्भ के हिंडोले में पड़ा हुआ उन्मत्तता से प्रलाप कर रहा है। जैसे शराबी नशे में धुत्त होने के बाद भी और शराब पीता है, वैसे ही दर्शन मोह से ग्रस्त आत्मा ऐसा अवर्णवाद करके और अधिक मोहग्रस्तता पैदा करती है।

उद्धारक मार्ग की खोज में बाधा

इस प्रकार यह दर्शन मोह आत्मा का उद्धार करने वाले सही मार्ग की खोज में बाधाएं उपस्थित करता है। जब मार्ग ही नहीं मिलता है तो सिद्धि का प्रश्न ही कहां उठता है? मार्ग नहीं मिलने से भटकाव ही बढ़ता है। वैसी दशा में आत्मा की अवस्था "इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः" जैसी हो जाती है कि वह इधर भटकती है, उधर भटकती है और दुःखों के जाल में उलझती रहती है। इस अवस्था की तुलना गेंद से की जा सकती है, जिसे जिधर फेंके, उधर ही लुढ़कती रहती है। संसारी आत्मा का भी ऐसा ही बेहाल होता है कि कर्म जैसा डंडा लगावे, वैसे ही गेंद की तरह वह लुढ़कती रहती है—उसे अपने आपे का भान ही नहीं रहता है। दर्शन मोह-कर्म आत्मा के साथ जो स्वरूप-व्यामोह की स्थिति को बनाता है उसे समझ कर सही मार्ग को खोजने में मनुष्य का विवेक लगे—इसी जागृति की प्राथमिक तौर पर आवश्यकता होती है।

जब तक मानव अपनी गेंद-वृत्ति छोड़ कर स्वयं को एक ध्रुव पर केन्द्रित नहीं करता, तब तक वह संसार के भटकावों से भी नहीं बच सकता है। वह स्वयं विकारों की ओर बढ़ता है तथा अपना कुप्रभाव संसार और समाज की गतिविधियों पर भी छोड़ता है।

मैं संकेत दे रहा हूं कि आप में सही मार्ग को खोज निकालने और निष्ठापूर्वक उस पर चल कर परमात्म-दर्शन करने की क्षमता है, योग्यता है, किन्तु आवश्यकता इस पुरुषार्थ की है कि कर्मों के इन आवरणों को हटा कर इस जीवन को ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना में केन्द्रित किया जाय। आप दर्शन-मोह को हटा सकते हैं और इसके बंधन के कारणों को तोड़ सकते हैं, बशर्ते कि आपमें वैसी जागृति आ जाए। आप स्वरूप-दर्शन के इस तत्त्व का मर्म समझ लें तो आपको अपनी आत्म-शक्ति का भान भी हो जायगा तथा सही मार्ग भी मिल जायगा।

सम्पत्ति का मद कितना ओछा होता है ?

जब आत्म-शक्ति का भान होने लगता है, तभी पता चलता है कि सम्पत्ति और वैभव का जो मद किया जाता है, वह कितना ओछा होता है तथा उस अवस्था में आत्मा पर-पदार्थों की आधीनता में कितनी परतंत्र बनी रहती है ? जब तक परतंत्रता रहती है, परावलम्बन होता है, सही मार्ग का तब तक निर्णय भी संभव नहीं बनता है।

यदि आप नाशवान् पदार्थों को बटोर कर जमा भी कर लें, लेकिन क्या आपने सोचा है कि इनका अंतिम परिणाम क्या होने वाला है ? कोई चाहे लखपति, करोड़पति और अरबपति ही क्यों न हो जाय, क्या वह मृत्यु को जीत सकता है ? हां, मोह की मदिरा में उन्मत्त बन कर पदार्थ-बल के आधार पर वह यह सोचने लग जाता है कि मेरे समान अब दुनिया में कोई नहीं है। मैं चाहूं जिस इन्सान का अपमान करूं—तिरस्कार करूं, संघ की अवहेलना करूं और यहां तक कि केवलज्ञानियों को भी कुछ नहीं समझूं—ऐसी मदमस्त और बेभान दशा लोगों में चंद चांदी के टुकड़ों के बल पर पैदा हो जाती है। चिन्तन करना चाहिये कि यह बाह्य सम्पत्ति क्या स्थायी रहने वाली है ? जरा से भी आत्म-बोध की चेष्टा की गई तो पता चलेगा कि यह बाह्य सम्पत्ति चंचल, अस्थायी और नाशवान् होती है, फिर इसका कौन-सा दंभ और कैसा अभिमान ? इसके अभिमान में जो इन्सानियत का अपमान किया जाता है, वह कितना ओछा और [illegible] दिखाई देता है ?

इससे भी ओछा और क्षुद्र होता है, अपनी ही स्वयं की आत्मा का अपमान—आत्म-शक्ति का तिरस्कार । जो स्वतंत्रता को छोड़ कर परतंत्रता को सुख समझ कर बहकता है, वह अपनी संजीवनी शक्ति से ही तो बहकता है । इस स्थिति से आज संभलने की जरूरत है । पुण्य के उदय से यह जो सम्पत्ति मिली भी है—इसके मोह में नहीं पड़ कर इसका शुभ कार्यों में नियोजन किया जाना चाहिये तथा अपनी आत्मा को दर्शन मोह के आवरण से अलग रखने की भावना बनानी चाहिये ।

समय की पुकार से भी जागिये

सम्पत्ति और वैभव का मोह त्यागने में आत्मा का लक्ष्य तो होना ही चाहिये और यदि यह स्थिति कमजोर हो तो समय की पुकार से भी जागिये । यह सम्पत्ति का कुछ हाथों में जो संचय हो रहा है, ध्यान रखें कि इस पर दुनिया की आँखें लगी हुई हैं । वह चौकन्ना होकर देख रही है कि अमुक के पास कितनी सम्पत्ति है और वह कैसे ले लेनी चाहिये ? इस लेने का मतलब लूट से ही नहीं है बल्कि नये राजनीतिक विचारों से है, जिन्हें आप समाजवाद या साम्यवाद के नाम से जानते हैं । इस कारण इस लेने को संवैधानिक रूप दिया जा रहा है । फिर भी सम्पत्ति के मद में मेरे भाई यही सोच कर बैठे रहें कि जहां मैं जाऊंगा, मेरी सारी सम्पत्ति भी साथ चलेगी तो इस बेभान अवस्था को क्या कहें ?

यह सोचना तो एक तरह से नशे का सोचना है । किन्तु यदि इस दिशा में जरा सा भी विवेक उपजा कर सोचा जाता है तो आपका यही निर्णय होगा कि इस सम्पत्ति के मोह में नहीं पड़े तथा इसको सिर पर न बिठा कर पैरों में रखें । इसका मतलब है कि इन्सान इसके आधीन नहीं बने बल्कि सम्पत्ति को अपने आधीन रख कर वह उसका सदुपयोग करे—उसको शुभ कार्यों में काम में लेवें ।

आज समय आ गया है, जब आपको अपने विचारों और कार्यों की गतिविधियों को परिवर्तित करना होगा ? आज सामान्य और मध्यम वर्ग के लोग कष्टों से बुरी तरह पिसे जा रहे हैं तो जो सम्पत्तिशाली हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे उनके साथ सहानुभूति रखें और उन्हें आत्मबल दें । प्रत्येक पीड़ित के साथ आत्मीयता का अनुभाव रखने से न स्वयं की बल्कि औरों की आत्मिक शक्ति में भी अभिवृद्धि होगी । प्रत्येक भाई के साथ स्नेह और सहयोग हो, छोटे से छोटे व्यक्ति को समान समझें तथा किसी का अपमान अथवा किसी के

साथ संघर्ष करने का मानस न रखें तो इस आत्मीयता का उत्तरोत्तर विकास होता जायगा।

दर्शन मोह का क्षय आत्मीयता से

दर्शन मोह कर्म आत्मा को मोह में पटकता है और जब मोह बढ़ता है तो स्वार्थ भड़कता है। स्वार्थ के साथ ईर्ष्या, मत्सर, द्वेष, प्रतिशोध, मान, दम्भ, लोभ आदि सभी दुर्गुण लगे हुए होते हैं जो कर्मों के आवरण को और अधिक घना बनाने का काम करते हैं। किन्तु अगर इस मोह को हटाना है तो इसका श्रेष्ठ उपाय प्रत्येक मनुष्य ही क्या, प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मीयता बढ़ाना है। आत्मीयता त्याग सिखाती है और उत्कृष्ट मानवीय गुणों का विकास करती है। आत्मीयता दर्शन मोह के क्षय का कारण इसीलिये बन सकती है कि उसके माध्यम से समता का प्रसार होता है।

आत्मीयता के अनुभाव में डूबा हुआ मानव-मन यही सोचता है कि मुझे जो कुछ मिला है, उसमें मेरा क्या है? यह तो सबका है, सबके लिये है। अपने किसी भी पिछड़े भाई का मनोबल मैं स्थिर कर सकूं—उसे उपयुक्त सहायता पहुँचा सकूं तो यह मेरा ही सौभाग्य होगा। ऐसे विचार से ममता छूटती है और समता निखरती है।

यदि समता की ऐसी मनःस्थिति सब ओर फैल जाय तथा सबके सब सार्वजनिक स्वामित्व की स्थिति में चल पड़ें तो क्या कहीं भी अभाव बना रह सकेगा? आज समाजवाद की जो आवाज आ रही है, वह इसमें समाहित हो जायगी। ऐसा मनुष्य कर सकता है, उसके पास शक्ति है, किन्तु इसके लिये दर्शन मोह कर्म की जड़ों को खोद निकालना होगा—मन के मोह और ममत्व को हटा देना पड़ेगा। सबके प्रति आत्मीयता ही इस मोह की जड़ों को सुखा सकेगी, क्योंकि इस आत्मीयता की सरसता से ही समता के नव-सुमन खिला करते हैं।

बुद्धि के सन्तुलन से भ्रान्ति निवारण व सही ज्ञान

दर्शन मोह की मदिरा का असर ज्यों-ज्यों कम होता जायगा, त्यों-त्यों बुद्धि का सन्तुलन भी बनता जायगा। बुद्धि का सन्तुलन नहीं होने की अवस्था में ही विविध प्रकार की भ्रान्तियां मन और मस्तिष्क में घुसती रहती हैं तथा जीवन को विपरीत दिशा में भटकाती हैं। इसी दशा में मनुष्य धर्म के सत्य मर्म को नहीं समझता है तथा ज्ञानियों की आशातना और अपमान करने की भी कुचेष्टाएं करता है। दर्शन मोह का ही कुप्रभाव होता है कि आगमों

और सूत्रों के विषय में भी बिना उनकी गंभीरता का मनन किये विचित्र-विचित्र संशय और भ्रान्तियां कई लोग उठाते रहते हैं। जहां संशय है, वहां सम्यक्त्व नहीं, मिथ्यात्व होता है। सम्यक्त्व समाधान और आस्था में विश्वास करता है। सम्यक्त्व बुद्धि को स्थिर और सन्तुलित बनाता है।

भ्रान्ति का निवारण और सही ज्ञान का वरण बुद्धि के द्वारा सन्तुलित चिन्तन से ही संभव होता है। यही चिन्तन केवली प्ररूपित धर्म की सत्यता एवं चतुर्विध संघ की उपयोगिता को प्रकाशित कर सकता है। स्वयं कार्य नहीं करना और धर्म व संघ आदि में अनास्था जताना दर्शन मोह के बंध का ही कारण होता है। अज्ञान की दशा में बिना मर्म समझे धर्म या संघ की निन्दा निश्चय ही जघन्य कार्य है। यह महापाप का विषय है। त्रुटियां कहीं दीखें तो उनको सुधारने का उपाय करना चाहिये, किन्तु अज्ञानवश भ्रांतियां फैलाना स्वयं का अहित करना है।

इन्सान को ऐसी प्रवृत्तियों से बचना चाहिये और यह बचना सन्तुलित बुद्धि से ही हो सकता है। धर्म और संघ का महत्त्व ऊंचा होता है तथा केवली प्ररूपित श्रेष्ठ धर्म के सच्चे अनुयायी कम हो तो उससे धर्म का महत्त्व कम नहीं होता है। उत्कृष्ट और गुरुतर कार्य भला क्या अधिक संख्या में लोग कर पाते हैं? श्रेष्ठ श्रेष्ठ ही रहेगा और आदर्श होगा, किन्तु उस आदर्श के प्रति संशय न रहे और उसका सच्चा ज्ञान प्राप्त हो—इसके लिये मनुष्य को स्थिर एवं सन्तुलित बुद्धि से चिन्तन करना चाहिये। बुद्धि के सन्तुलन को देख कर ही कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति के मन मस्तिष्क पर बाह्य या आन्तरिक किसी भी प्रकार की मदिरा का कोई प्रभाव नहीं है।

नशा हटने से स्वाभाविकता आती है

नशा कैसा भी हो—चाहे बाहरी या अन्दरूनी, जब वह हटता है तभी स्वाभाविकता पैदा होती है। नशा जब होता है तो इन्सान नहीं बोलता, उसका नशा बोलता है। बाहर का नशा तो आप समझते हैं जो शराब, गांजा आदि से लेकर बीड़ी-सिगरेट और चाय तक का होता है, उसके वश में होकर भी इन्सान अपनी स्वाभाविकता खो देता है। फिर आन्तरिक उन्मत्तता—दर्शन मोह का नशा तो प्रगाढ़ ही होता है, जिसके कारण आत्मा अपने ही स्वरूप को भूल जाती है। यह द्रव्य और भाव नशा समझपूर्वक हटाना चाहिये ताकि सम्यक्-दर्शन की उपलब्धि हो सके।

आत्मा जब सहज स्वाभाविक स्थिति में आती है तब वह सम्यक्-दर्शन की स्थिति पर आरूढ़ होकर परमात्म-दर्शन की ओर अग्रसर बनती है।

बाहर का नशा छोड़ने के बारे में भी मैं अक्सर कहा करता हूं क्योंकि बीड़ी सिगरेट तक का दुर्व्यसन इतना फैला हुआ है कि जैसे इसमें कोई दोष ही नहीं हो। बाहर के छोटे से छोटे नशे को छोड़ने की कला जब तक नहीं आयेगी तो अन्दर का नशा कैसे दूर कर सकोगे ? मिथ्यात्व मोह का नशा अन्दर और बाहर दोनों को बिगाड़ता है। इसलिये पहले सभी तरह का नशा हटाइये, जीवन के प्रवाह में स्वाभाविकता लाइये, बुद्धि को सन्तुलित कीजिये और फिर देखिये कि भीतर और बाहर सभी ओर समता का कैसा सुन्दर वातावरण प्रसारित हो जाता है ।

मोह जय से आत्म जय

जो मदिरा रूप इस मोह को जीत लेता है, वह अपनी आत्मा को भी जीत लेता है अर्थात् आत्मा के सारे आवरणों को हटा देता है । आठों कर्मों में मोह ही महाबली कर्म होता है, अतः यदि इसे ढीला कर दिया तो अन्य सभी कर्म स्वतः ही हिलने लग जाते हैं । बाहर के और अन्दर के नशे को मिटाना— यह प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का पहला पुरुषार्थ होना चाहिये ।



विज्ञान, वास्तविकता एवं कर्म-बंध



सोलहवां प्रवचन

दिनांक १२ अक्टूबर, १९७२

प्रवचनस्थल—लाल भवन

जयपुर (राजस्थान)

"परम प्रभु जिन तुज सुज आंतर रे.............."

पद्म प्रभु की प्रार्थना का यह मंगलाचरण नित्य रूप में है। प्रार्थना की पंक्तियों के माध्यम से परमात्मा का विराट् रूप इस आत्मा के सामने उपस्थित होता है कि उस विराट् रूप को वैचारिक दृष्टि से वह अपने जीवन में स्थान दे। इस विराट् रूप की कल्पना इसी आत्मा के कोने में छिपी हुई है, किन्तु परमात्म-स्वरूप का निमित्त सामने रहे तो वह कल्पना एक दिन साकार रूप ले सकती है। इसी प्रार्थना से आत्मा की इस विराट् शक्ति का प्रादुर्भाव संभव है। परमात्मा और आत्मा के बीच का यह जो अन्तर वर्तमान में है, उसे ही दूर करने की दृष्टि प्रार्थना देती है।

ज्ञानीजन का कथन है कि आत्मा और परमात्मा का यह अन्तर कर्म विपाक की दृष्टि से है। यह कर्म-तत्त्व एक विलक्षण तत्त्व है। कर्म-सिद्धान्त के विषय में अनेक व्यक्तियों द्वारा चिन्तन हुआ है तथा कई दार्शनिक धाराओं में इस सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है। परन्तु वीतराग प्ररूपित कर्म-सिद्धांत के रहस्य को समझने वाले विरले ही व्यक्ति होते हैं। कर्म-तत्त्व यह चेतन और जड़ के बीच का एक तत्त्व है। आत्मा अपने मूल रूप में सिद्ध परमात्मा के रूप में आदर्श दृष्टि से विद्यमान है। उससे सर्वथा भिन्न परमाणु तत्त्व भी अपने आपके अन्दर शुद्ध रूप में रहा हुआ है। किन्तु इन परमाणु स्कंधों का एक पिंड बनता है जो इस आत्मा के साथ संयुक्त होकर सजीव शरीर की संज्ञा पाता है।

यह जड़ और चेतन का संयोग सारी सृष्टि की रचना को एक आश्चर्यमय रूपक के रूप में प्रस्तुत करता है। वैज्ञानिक लोग इस रचना के रहस्यों की खोज कर रहे हैं। डॉ० खुराना ने बहुत समय तक अनुसंधान किया और वे खोज के एक निर्णय तक पहुंचे। किन्तु वह खोज अन्तिम नहीं है—आगे अभी अज्ञात क्षेत्र बहुत लम्बा-चौड़ा है। एलोपैथिक पद्धति से शारीरिक चिकित्सा की जाती है तथा शल्य क्रिया से अंगों का परिवर्तन तथा नये अंगों का आरोपण भी होने लगा है, किन्तु फिर भी यह बात नहीं है कि वैज्ञानिक लोग शरीर के सम्पूर्ण रहस्यों को जान गये हों।

शरीर विज्ञान और आत्म-ज्ञान

वैज्ञानिक अभी अपनी खोज के निर्णायक दौर में भी नहीं पहुंच पाये हैं। उनकी खोज अभी चालू है। उनकी शरीर विज्ञान की इस खोज में भी जब तक चैतन्य शक्तियुक्त प्रकृति काम करती है, तब तो उनको सफलता मिलती है वरना उनके सारे प्रयास विफल हो जाते हैं। यही कारण है कि शरीर-विज्ञान की खोज तब तक अधूरी ही रहेगी, जब तक आत्मज्ञान के रहस्यों का अनुभव नहीं किया जायगा। आत्मज्ञान की सूक्ष्मता के प्रकाश में शरीर-विज्ञान के विविध रहस्यों की जानकारी सरलतापूर्वक हो सकेगी और इसके लिये कर्मों के विपाक तथा कर्मों के बंध एवं उदय की प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है। कर्म–सिद्धान्त शरीर–विज्ञान एवं आत्मज्ञान के सभी सम्बन्धों एवं प्रभावों को स्पष्टतापूर्वक सामने रख देता है।

किन्तु वर्तमान विचारणा की एक विडम्बना यह है कि इस सारी परिस्थिति का अध्ययन किये बिना ही आज के विचारक एवं युवावर्ग यह मान कर बैठ जाते हैं कि जो वैज्ञानिक कहे—वही सत्य तथा उससे अतिरिक्त और कोई सत्य नहीं है। ऐसा हठवादी जो आग्रह है, वह मनुष्य को सत्य से दूर फेंकता है, अतः ऐसे दुराग्रह में आज संशोधन की आवश्यकता है। जो ऊंचे वैज्ञानिक हैं, वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि अभी तक उनकी प्रगति काफी अधूरी है तथा उनकी खोज का क्षेत्र बहुत अछूता पड़ा है। जो कुछ खोजा गया है, उसे अभी प्राथमिक से अधिक नहीं कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में अधूरे तथ्यों को पूर्ण सत्य की संज्ञा दे देना स्वयं विवेकशील वैज्ञानिक भी उचित नहीं मानेंगे। अतः वैज्ञानिकों की खोजों का आत्मज्ञान से सम्बन्धित कर्म–सिद्धान्त आदि अन्य सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक अध्ययन किया जायगा, तभी प्रयोगात्मक स्थिति भी आगे बढ़ सकेगी।

कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में

आपको ऐसा लगता होगा कि कभी–कभी मैं आपको इन वैज्ञानिक तथ्यों के साथ उलझन में डालने की कोशिश करता हूं, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। हकीकत में मैं इनको सुलझाने की कोशिश कर रहा हूं। आप वैज्ञानिक तथ्यों को कर्म–सिद्धान्त की तुलना में परखिये—उसका अध्ययन और मनन कीजिये, फिर कुछ–कुछ स्पष्टीकरण सामने आयगा कि वैज्ञानिक चरण भी घूम–फिर कर उधर ही बढ़ रहे हैं जिधर केवलज्ञानी विचरण कर चुके हैं और अपने ज्ञान का आलोक इस विश्व को प्रदान कर चुके हैं।

विश्व में जितनी भी दार्शनिक विचारधाराएं हैं, उनमें न्यूनाधिक मात्रा में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु जिस वैज्ञानिक पुष्टता से उसका विश्लेषण जैन दर्शन ने किया है, उतनी गम्भीरता और स्पष्टता अन्यत्र नहीं मिलेगी। इस कर्म सिद्धान्त का मानना है कि आत्मा जब शुद्ध अवस्था में होती है, तब उसके कर्म बंध नहीं होता है । दूसरी ओर जड़ भी अपनी शुद्ध अवस्था में चेतन से सर्वथा पृथक् होता है । अनादि काल से संसारी आत्मा जड़-चेतन के संयोग पर चल रही है, जिससे अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उसके साथ कर्म-वन्ध का अवसर आता रहता है ।

कर्म का रूप तब पैदा होता है जब जड़ का संयोग आत्मा के साथ होता है । पहले वे कार्माण वर्गणा के पुद्गल रूप होते हैं । जब वे आत्मा के साथ बंधते हैं और सजीवता ग्रहण करते हैं, तब कर्म कहलाते हैं। इसीलिये जिन आत्माओं के साथ कर्म लगे हुए हैं और उन कर्मों के साथ जो शरीर है, वह सजीव शरीर कहलाता है ।

अजीव कर्म वर्गणा का सजीव रूप

अब इसमें प्रश्न यह आ सकता है कि अजीव कार्माण वर्गणा के पुद्गल सजीव कैसे बन जाते हैं ? उत्तर यह है कि तदनुरूप कार्य से कर्म आए और आत्मा के साथ संयुक्त होकर सजीव बन गये । इसका प्रमाण भगवती—सूत्र में दिया गया है । गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया—कि रूवे आया, अरूवे आया ? तो प्रत्युत्तर में भगवान् ने कहा—'रूवे आया, अरूवे आया ।' अर्थात् आत्मा रूपी भी है और अरूपी भी है। यह सापेक्ष कथन है। अपेक्षा यह है कि सब ही शरीर हैं, जो संसारी आत्माएं हैं और यदि सजीव शरीर को कोई सर्वथा जड़ कहे तो ऐसा कहने वाले को असत्य लगता है । तो प्रभु ने इस शरीर-अवस्था की स्थिति को अपेक्षित दृष्टि से रूपी चैतन्य कहा है कि जितने परमाणु आत्मा के साथ आकर लगे और शरीर रूप में रासायनिक प्रक्रिया में संयुक्त हुए तो उन्होंने सजीव रूप ग्रहण कर लिया ।

यहां आप यह सोच सकते हैं कि अजीव तत्त्व सजीव में कैसे और सजीव तत्त्व अजीव में कैसे ? इसमें समझने की बात यह है कि जब अजीव तत्त्व सजीव के साथ हुआ तो उस वक्त उसकी पर्याय का चैतन्य शक्ति की पर्याय के साथ मिश्रण होने से वह सजीव कहलाने लगा । शास्त्रीय दृष्टि से यह नहीं है कि सर्वथा चैतन्य जड़ और जड़ चैतन्य हो गया । जड़ सदा जड़ और चैतन्य सदा चैतन्य रहेगा, परन्तु पर्याय की दृष्टि से उसके संयोग के साथ रूपी आत्मा होने का भान पड़ता है । यह भी ध्यान रखें कि संयोग सम्मिलन

नहीं होता। शरीर पर वस्त्र धारण किया है—यह संयोग है किन्तु वस्त्र शरीर रूप में एकमेक नहीं हो जाता। संयोगित होकर भी अस्तित्व पृथक्-पृथक् रहता है।

कर्म के अनुरूप वैज्ञानिक खोज

बताया जाता हैं कि वैज्ञानिकों ने आजकल एक विषाणु की खोज की है जो कई प्रकार का होता है। उसके लिये वैज्ञानिकों का कथन है कि वे अणु निर्जीव होते हैं। किन्तु वे मानते हैं कि जब विषाणु सजीव कोशिका के अन्दर प्रवेश करते हैं तो वे सजीव बन जाते हैं। यदि वे ही विषाणु निर्जीव कोशिका में रखे जाते हैं तो वे निर्जीव ही रहते हैं। इसमें उनका तात्पर्य यह है कि ये विषाणु दोनों तत्वों को जोड़ने वाले भी बनते हैं। सजीव कोशिका और निर्जीव कोशिका—ये शब्द वैज्ञानिक क्षेत्र के हैं। शास्त्रीय दृष्टि से कोशिका एक स्कंध कहा जाता है जो सजीव और निर्जीव—दो तरह का बनता है। जैसे विज्ञान इन्हें जोड़ने में विषाणु की कल्पना करता है और विषाणु के आवरण प्रोटीन आदि के मानता है, वैसे ही कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से इनके स्थान पर मैं लेश्या को जोड़ रहा हूं, जो कार्मण वर्गणा के रूप में निर्जीव थी, किन्तु जब आत्मा के साथ वह संयुक्त हुई तो सजीव बन जाती है। जब वे लेश्यागत परिणाम पुनः आत्मा से विलग होते हैं तो पुनः वे निर्जीव बन जाते हैं।

कर्म-सिद्धान्त की इस परिपक्वता के साथ वैज्ञानिक खोज की आप तुलना करेंगे तो प्रतीत होगा कि यह खोज अभी तक बहुत अपरिपक्व है। वैज्ञानिक लोग इतनी खोजों के बाद भी अनखोजा एकतत्व ऐसा मान रहे हैं कि वह सजीव और निर्जीव कोशिका के साथ जुड़ने का काम कर रहा है। इस स्थान पर जब लेश्या की वर्गणा को इसका माध्यम मान कर सोचेंगे तो इस जुड़ने वाले तत्व के सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी होने लगेगी। कषायों की स्थिति पर भी इस संदर्भ में चिन्तन करना पड़ेगा। तब स्पष्ट होगा कि जैन-दर्शन के इस कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि कितनी पैनी और सूक्ष्म रही है। इस दृष्टि तक भी अपने प्रयोगात्मक ढंग से पहुंचने में अभी तक वैज्ञानिकों को बहुत समय लगेगा।

विज्ञान शरीर के माध्यम से चल रहा है, उसका भौतिक दृष्टिकोण अधिक रहा हुआ है और उसी के जरिये सत्य की खोज की जाती है। उसमें विचार और अनुभूति तथा चिन्तन को अपेक्षाकृत कम महत्व दिया जाता है। किन्तु वैज्ञानिक यदि इस कर्म-सिद्धान्त को आधार बिन्दु बना कर अपने प्रयोगों

की शृंखला को चलावें तो वे सर्वांगीण सत्य की ओर अधिक जल्दी और अधिक आसानी से पहुंच सकेंगे।

मोहदशा से आत्म-विस्मृति

कर्म-सिद्धान्त के वस्तु विषय एवं कर्मों के बन्ध तथा उदय की प्रक्रिया को इस प्रकार जब वैज्ञानिक खोजों की तुलना में रख कर चिन्तन किया जायगा तो यह स्पष्ट होगा कि यह सिद्धान्त पुराना भले हो किन्तु शाश्वत महत्व का है तथा वैज्ञानिक खोजों को भी घूम फिर कर इसी धुरि पर स्थित होना पड़ेगा। वनस्पति एवं शब्द आदि की वैज्ञानिक खोजों ने सिद्ध कर दिया कि इनके बार में जो पुराना शास्त्रीय विवरण व विश्लेषण था, वह बिल्कुल सत्य था। इसी दृष्टिकोण से कर्म-सिद्धान्त को समझ कर यदि आपको वर्तमान जीवन के सुख-दुःख का लेखा-जोखा देखना है तो कर्म-विपाक एवं उसके फल का ही अध्ययन करना होगा।

आठों कर्मों में बलवान कर्म—मोहनीय-कर्म को माना गया है तथा इसके भेदों में दर्शन मोह एवं चारित्र मोह का विवरण देते हुए शास्त्रों में बताया गया है कि दर्शन मोह से आत्मा स्वयं से ही विस्मृत हो जाती है। यह कर्म आत्मा को अपने ही हिताहित का भान नहीं होने देता है। दर्शन-मोहनीय के उदय से आत्मा का विचार-प्रवाह विपरीत धारा में बहने लगता है। किन्तु दर्शन मोह कर्म का जब क्षय कर दिया जाता है, तब आत्मा को हेय (त्यागने लायक), ज्ञेय (जानने लायक) और उपादेय (ग्रहण करने लायक) तत्त्वों का ज्ञान होता है।

किन्तु फिर भी वह आत्मा आचरण-मार्ग पर त्याग की दृष्टि से आगे नहीं बढ़ सकती है। इसके लिये चारित्र मोह कर्म का भी क्षय करना होगा। किसी व्यक्ति के द्वारा आध्यात्मिक जानकारी रखना तथा शास्त्रों का अभ्यास करना एक बात है तो उन पर आचरण करना एवं त्याग ग्रहण करना दूसरी बात है। कई लोग किन्हीं को आरोपित करते हुए कह देते हैं कि अमुक इतना ज्ञानी है फिर भी अपने ज्ञान को वह अपने ही जीवन में उतारता नहीं है तो इसके पीछे यह तथ्य होता है कि दर्शन मोह कर्म के क्षय से हेय, ज्ञेय, उपादेय का ज्ञान होता है, सच्ची जानकारी हो जाती है किन्तु चारित्र मोह कर्म क्षय के बिना आचरण की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। किसी पर यह आरोप लगा देना कि आचरण शुद्ध नहीं तो सही जानकारी किस की—यह तो आसान है किन्तु उसके सही कारणों का ज्ञान बिना अनुसंधान के संभव नहीं होता है। कर्म-सिद्धान्त ऐसे प्रत्येक कारण का अनुसंधान करने की प्रेरणा

ही नहीं देता बल्कि उस अनुसंधान का स्पष्ट मार्ग भी प्रदर्शित करता है।

चारित्र मोह और आचरण की अवस्था

कर्म सिद्धान्त की शास्त्रीय दृष्टि इस आरोप की पृष्ठभूमि के कारण को सामने लाती है-कि सही ज्ञान रखते हुए भी चारित्र मोहनीय-कर्म के उदय से वह व्यक्ति आचरण के धरातल पर कार्यरत नहीं हो सकता है। त्याग का महत्व जानते हुए भी वह त्याग-व्रत धारण नहीं कर सकता है। दर्शन-मोहनीय के क्षय से श्रद्धा और आस्था सुधर जाती है किन्तु आचरण की शक्ति चारित्र मोहनीय के क्षय से ही प्राप्त होती है।

विचारणीय है कि चारित्र मोहनीय कर्म का उदय किस रूप में आता है? उस उदय को किस प्रकार हम समझ सकते हैं? चारित्र मोह कर्म की अवस्था क्या हम देख सकते हैं आदि? इस विषय में सोचते हैं और एक अपेक्षा से सोचते हैं कि चारित्र मोह कर्म है या नहीं तथा इस कर्म का उदय और उपार्जन कैसा होता है तो शास्त्र की दृष्टि यह है कि कषाय के उदय से आत्मा में जो तीव्र परिणाम उत्पन्न होते हैं, उन्हीं तीव्र परिणामों से चारित्र मोह कर्म का बंधन होता है। कषायगत परिणामों का अभिप्राय उन परिणामों से होता है जो क्रोध, मान, माया, लोभ की विविध वृत्तियों से पैदा होते हैं। ये सब कषाय वृत्तियां कहलाती हैं। कष् का अर्थ होता है दंड पाना और आय का अर्थ है लाभ याने जिससे दंड अर्जित हो वह कषाय। कषाय की वृत्ति जब आत्मा के साथ लगती है तब चारित्र मोह कर्म बंधता है।

एक उदाहरण से इसको समझिये। एक व्यक्ति ने कटु शब्दों का प्रयोग करके दूसरे व्यक्ति को उत्तेजित बना दिया। वह इतना उत्तेजित हो गया कि अपना आपा ही भूल गया और अंटशंट बकने लगा तो मानिये कि वह चारित्र मोह में है। वही मोह उत्तेजना दिलाने वाले में भी है। उत्तेजना देने वाला स्वयं गुस्सा न भी करे तब भी वह सामने वाले को क्रोधित बना देता है। दूसरा क्रोधित हुआ तो उसके परिणाम तीव्रतर बने। क्रोध में आत्मा हिताहित या कृत्याकृत्य का भान भूल जाती है। क्रोध में ही कोई औरों का नुकसान कर डालता है, किन्तु उससे अपना भी कम नुकसान नहीं करता। कषाय की वृत्ति जब उग्र होती है, तब क्रोध तो निमित्त ढूंढ़ता है और ज्यों ही निमित्त मिलता है, वह भड़क उठता है।

इस प्रकार चारित्र मोह का उदय मनुष्य के मन में छिपा रहता है कि अवसर मिलते ही उग्र रूप धारण कर लेता है। आचरण की अवस्था इसी चारित्र मोह की उदय एवं उपार्जन की स्थिति पर चलती है।

चारित्र मोह का उदय और बंध

मानव की आचरण दशा को चलाने वाला चारित्र मोह कर्म बना हुआ रहता है। कोई-कोई लोग इतने तुनकमिजाजी दिखाई देते हैं कि जैसे उनमें सहनशीलता का नामोनिशान ही न बचा हो। कोई नीति से कुछ कह देता है जिसे वह अच्छी सीख के रूप में देखता है, मगर सहन नहीं कर पाने के कारण उत्तेजित हो जाता है और लड़ने लग जाता है कि मुझे क्यों टोक दिया ? इस तरह अपने आपे को खो देने का मतलब है कि वह चारित्र मोह कर्म का उपार्जन कर रहा है। यह तुनकमिजाजी आजकल बहुत ज्यादा दिखाई देती है जिसका कारण चारित्र मोह कर्म का बंध और उदय में निकाचित रूप से आना है।

प्राचीन काल में लोगों का लक्ष्य चारित्र मोह कर्म के क्षय की ओर अधिक था तथा वे इसके बंध के कारणों से दूर रहते थे तो वे भद्रिक परिणामी भी बहुत ज्यादा थे। उसका परिणाम यह आता था कि उन्हें उचित छोड़ कर कभी अनुचित भी कुछ दिया जाता था तो वे इस प्रकार उत्तेजित नहीं हो जाते थे। इसी कारण उनकी आचरण-क्षमता एवं त्याग वृत्ति भी प्रबल होती थी। वे लोग कषाय वृत्ति में उलझते नहीं थे और सरल वृत्ति से परस्पर व्यवहार किया करते थे।

किन्तु आधुनिक युग में आचरण और व्यवहार की अवस्था जिस विपरीत दिशा में जा रही है, उससे चारित्र मोह कर्म के उदय और बंध की स्थिति का स्पष्ट ज्ञान किया जा सकता है। आज के मानव की बुद्धि का विकास हुआ है तो वह छोटी से छोटी बातों में भी संवेदनशील बनने लग गया है जिससे वह सहज ही में कषायों के जाल में उलझ कर चारित्र मोह कर्म का बंध कर लेता है। मान और अपमान का भूत जैसे प्रत्येक व्यक्ति के सिर पर सवार हो रहा है और कई बार तो इसकी भ्रान्त धारणा में ही लोग उत्तेजित हो जाते हैं। इस प्रकार जब तक कोई कषाय युक्त होता है तो निमित्त पाते ही कषाय वृत्ति भड़क जाती है। क्रोध या किसी भी अन्य कषाय वृत्ति के उभर कर प्रकट होने से वह स्वयं सन्तप्त अलग होता है तथा चारित्र मोह कर्म का उपार्जन भी कर लेता है।

उत्तेजना का पागलपन

शास्त्रीय दृष्टि स्पष्ट कहती है कि चारित्र व दर्शन मोह कर्म के उदय एवं बंध की प्रक्रिया में आत्मा इतनी बेभान हो जाती है कि एक प्रकार से उत्तेजना का पागलपन उस पर सवार रहता है। यह उत्तेजना विभिन्न

कषाय वृत्तियों की होती है । जब एक व्यक्ति क्रोध से उत्तेजित होता है तो उसे यह भान नहीं रहता कि इस उत्तेजना से और कर्मों का बंध होगा तथा उसकी आत्मा पर आवरण की जकड़ और मजबूत हो जायगी । वह तो अभिमान–मद से भर उठता है और सोचता है कि सामने वाले ने उसका अपमान कर दिया है तो उसको वह मजा चखा कर ही मानेगा । किन्तु इस उत्तेजना में उसको यह ध्यान में नहीं आता कि इस अभिमान में तो उसकी स्वयं की आत्मा का कई गुना अपमान हो रहा है क्योंकि दूसरे को उत्तेजना लावें, उससे पहले तो स्वयं को उत्तेजना आती है और उससे अपनी ही आत्मा कर्म बंध करती है, जिसका फल स्वयं को ही भुगतना पड़ेगा ।

इसके लिये एक रूपक दे रहा हूं । एक वन में एक वनराज विकराल रूप धारण किये हुए स्वतंत्रता से विचरण कर रहा था तो कुछ शिकारियों ने सोचा कि इस सिंह को पकड़ लेना चाहिये । अनेक उपायों को प्रयोग में लाकर उन्होंने उसे पकड़ कर पिंजरे में कैद कर लिया । शिकारी तो बाद में चले गये किन्तु सिंह पिंजरे में बन्द होकर छटपटाने लगा भूख से और पीड़ा से । तभी संयोग से एक व्यक्ति उधर से निकल रहा था, उसे सिंह ने अपनी लाचारी बता कर मुक्त करने का संकेत किया । उस व्यक्ति को दया आगई, फिर भी यह शर्त तय करके कि वह मुक्त होकर उसी पर आक्रमण नहीं करेगा, उस सिंह को उसने मुक्त कर दिया । लेकिन सिंह तो भूखा था, वह अपने उस उपकारी पर ही लपका तो वह व्यक्ति एक वृक्ष पर चढ़ गया और उसने अपनी जान बचाई । तभी एक लोमड़ी उधर आ गई । उस व्यक्ति ने उसे सारी बात बता कर सिंह से न्याय कराने की मांग की । लोमड़ी चालाक जानवर होती है । उसने सिंह से सारी बात की और बनते हुए कहा कि यह हो ही नहीं सकता कि सिंहराज पिंजरे में थे । सिंह उत्तेजित हो गया सो झट से उसने बताया कि नहीं, था तो वह पिंजरे में ही और यह बताने के लिये वह तुरन्त पिंजरे में घुसा । लोमड़ी के इशारे पर उस व्यक्ति ने तुरन्त उस पिंजरे को वापिस बन्द कर दिया । यह एक शिक्षाप्रद रूपक है । सोचिये कि सिंह वापिस पिंजरे में बलात् बन्द हुआ या स्वेच्छा से । सिंह ने जैसे स्वेच्छा से ही पिंजरे में बन्द होकर बन्धन वापिस ले लिया, वैसे ही यह आत्मा अपनी उत्तेजना के वश में होकर कर्म बन्ध के पिंजरे में बार–बार बन्द होती रहती है और वह भी स्वेच्छा से—अपनी ही आत्म–विस्मृति से ।

आज चारित्र-बल का पतन क्यों ?

यह चारित्र मोह कर्म अपने बंध और उदय में जितना प्रबल बनता

है, व्यक्तियों का चारित्र उतना ही गिरता है। आचरण की उनकी गंभीरता घटती है और वे बार-बार उत्तेजनावश आचरणहीन होकर इस कर्म बंध के कारणों में उलझते जाते हैं। आज चारित्र बल का जो अधिकांशतः पतन देखने को मिलता है, कर्म-सिद्धान्त के अनुसार इस पतन के इस प्रकार के ही कारण हैं। आज अधिकतर व्यक्ति स्वयं क्रोध करते हैं और दूसरों को क्रोधित बनाते हैं, स्वयं कषायों के घेरे में बन्द होते हैं और दूसरों को भी उसमें खींचते हैं तथा इस प्रकार स्वयं दुःख पाते हैं तथा दूसरों को भी दुःखित बनाते हैं। इस तरह दुःख का घनत्व बढ़ रहा है और चारित्र बल का पतन हो रहा है।

यह मोह कर्म महाबली और महाभयंकर होता है। यदि आप वर्तमान आचरण निष्ठा में अभाव के कारण ढूंढते हैं तो विदित होगा कि आज के लोगों की बुद्धि जितनी पैनी हुई है, उतनी ही वह आत्माभिमुखी होने की अपेक्षा क्षुद्र बातों में अधिक उलझ गई है। छोटी-छोटी बातों को लेकर मानापमान के झगड़े तथा पदलिप्सा के विवाद खड़े हो जाते हैं तथा उनके पीछे कषाय वृत्तियों का कुचक्र चलता है। इस प्रकार मोह कर्म का बंध अधिकाधिक जटिल बनता जाता है तथा चारित्र बल और आचरण की क्षमता निरन्तर घटती जाती है। इस कर्म बन्ध की कम से कम अन्तर्मुहूर्त की स्थिति है तथा उस बंध का फल भुगते बिना छुटकारा नहीं होता।

बुद्धि विकास के साथ जीवन विकास नहीं है

वैचारिक दृष्टि से आज की चारित्र-भ्रष्टता के कारणों की खोज करेंगे तो स्पष्ट होगा कि इस युग में मनुष्य ने बुद्धि का तो सूक्ष्म रीति से विकास किया है किन्तु उसके साथ-साथ उसका सदुपयोग करके उसने अपने जीवन का विकास नहीं किया है। सूक्ष्म बुद्धि यदि अपने स्वभाव को संतुलित बनाती, अपना रुख शुभ और शुद्ध वृत्तियों की ओर मोड़ती तो निश्चय ही जीवन भी उतना ही सूक्ष्म विकास सम्पादित कर सकता था। वैसी अवस्था में संसार में चारित्र-निर्माण की होड़ मचती तथा मोह कर्म के क्षय की ओर सभी का पुरुषार्थ सक्रिय रहता।

किन्तु स्थिति कुछ विपरीत दिशा में चली। एक ओर बुद्धि का सूक्ष्म विकास हुआ—सोचने की शक्ति पैनी बनी, परन्तु दूसरी ओर जीवन के सच्चे विकास की ओर सामान्य रुचि का निर्माण नहीं हुआ जिससे उस विकसित बुद्धि का अधिकतर दुरुपयोग ही होने लगा। वह बुद्धि पाप-बुद्धि अधिक बनने लगी। गति तो बुद्धि की पैनी बन गई, मगर वह अपनी पैनी गति से कर्म

बन्ध की दिशा में आगे बढ़ने लगी, जिससे चारित्र-भ्रष्टता का संकट गहरा होता जा रहा है ।

वर्तमान परिस्थितियों पर भी कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में गहन चिन्तन किया जायगा तो इसी परिणाम पर आना होगा कि आज मनुष्यों की वृत्तियों में जो विकार पनप रहे हैं, उन्हें घटाने वाला वातावरण बनाया जाय। राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, नैतिक आदि सारी अवस्थाओं में एक स्वस्थ सन्तुलन लाकर मोह कर्म के उदय में भी एक धीरतापूर्ण गंभीरता आवे तो इस कर्म के बंध की ओर भी लोग उत्तेजनावश न बहें । आज जो मुर्गी से अंडा तथा अंडे से मुर्गी की तरह जनमानस की गति चल रही है, उसे नये दिशा-दान की त्वरित आवश्यकता है । कर्म सिद्धान्त के मर्म को समझ कर यदि स्वभाव एवं वृत्तियों को एक नया मोड़ दिया जाय तो मोह कर्म के क्षय की ओर लोगों की रुचि बढ़ा कर ज्ञान एवं चारित्र बल का पुनः विकास किया जा सकता है । जब इस प्रकार एक बार जीवन विकास का क्रम बन जायगा तो फिर यह प्राप्त बुद्धि का सूक्ष्म विकास तेजी से विकासोन्मुख जीवन को विकास की अमित ऊंचाइयों तक अवश्य ही पहुँचा सकेगा ।

एकरूपता एवं समानता का व्यवहार

सच्चे जीवन विकास के साथ ही एकरूपता एवं समानता का व्यवहार विकसित होता है । यह व्यवहार पक्षपातहीन होने से क्षणिक रूप से किसी को बुरा लग सकता है किन्तु व्यापक रूप से सबको प्रियकारी होगा, क्योंकि यह समता के भावों से भरा-हुआ होता है । समता जीवन का विलक्षण गुण है और जिसने इस गुण का अपने जीवन में विकास कर लिया, समझिये कि वह अपने जीवन में अलौकिकता की शक्ति को भर लेता है । व्यक्ति के जीवन में समता का विकास अपने ज्ञान एवं चारित्र के तेज के साथ समाज एवं संसार को भी उस दिशा में प्रभावित करने वाला बनता है । इस एकरूपता एवं समानता के व्यवहार को अपने जीवन में अधिकाधिक रूप से आज विकसित करने की प्रबल आवश्यकता है ।

कहने का अभिप्राय यह है कि मोहनीय कर्म की कैद से अपनी आत्मा को जितना छुड़ा सकें, छुड़ाने का निरन्तर प्रयास करें, जिससे अन्य कर्मों के बंध भी ढीले हों । इस प्रयास से विषमताएं हटेंगी और जीवन के सच्चे ज्ञान एवं आचरण में समता का विकास होगा तथा एकरूपता का सर्वप्रिय व्यवहार ढलेगा ।

●●●

कर्म विपाक की प्रक्रिया का आधार



सोलहवां प्रवचन

दिनांक १३ अक्टूबर, १९७२

प्रवचनस्थल—लाल भवन

जयपुर (राजस्थान)

"पद्म प्रभु जिन तुझ मुझ आंतरू रे......................"

पद्म प्रभु परमात्मा के चरणों में प्रार्थना अर्पित करने का हेतु यह है कि इस प्रार्थना को निमित्त बनाने से संभव है, कभी आत्मा की अन्तःस्फुरणा अधिक वेग पकड़ ले और परमात्म-स्वरूप का वरण करने की दिशा में आगे बढ़ चले। प्रार्थना में जो यह भाव है कि आत्मा और परमात्मा के स्वरूपों के बीच में रहा हुआ अन्तर कैसे दूर हो—संभव है, बार-बार उसकी अभिव्यक्ति से कृति की ओर चरण क्रियाशील बनें। जब इस अन्तर को दूर करने की भावना बलवती बनेगी तो फिर ध्यान उस ओर जायगा कि इस अन्तर के कारण क्या हैं और कैसे उन कारणों को मिटा कर इस अन्तर को दूर किया जा सकेगा ?

आत्मा और परमात्मा के बीच जो अन्तर विद्यमान है, उसका कारण कर्म-विपाक है। कर्म-विपाक का अर्थ कर्म-फल होता है। तात्पर्य्य यह है कि किये हुए कर्म अपना फल देते हैं तथा आत्मा को वह फल भोगना होता है तो प्रश्न पैदा होता है कि यह अन्तर कर्मों ने कैसे डाला ? यदि कर्म ऐसा अंतर पैदा करने में स्वयं समर्थ होते हैं तो वे सिद्ध परमात्मा की आत्मा को भी फिर ऐसे ही अन्तर में खींच सकते हैं। यदि कर्मों की स्वतंत्र शक्ति स्वतः ही आत्मा की शक्तियों को ढकने में समर्थ होती तो यह आत्मा कभी भी सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो नहीं कर पाती।

परन्तु वास्तविकता यह है कि कार्माण वर्गणा के पुद्गल तो जड़ हैं और वे ही आत्मा के साथ संयुक्त होकर कर्म रूप धारण करके आत्मिक शक्तियों को आच्छादित बनाते हैं। यदि मूल स्थिति का चिन्तन किया जाय तो विदित होगा कि यह अन्तर कर्मों ने नहीं डाला है। यह तो स्वयं आत्मा का ही उपार्जन है। आत्मा स्वयं अपने शुभाशुभ परिणामों तथा कर्मों से कर्मों का उपार्जन करती है तथा उस से अन्तर की न्यूनाधिकता बनती रहती है।

कर्मों का बंध, फल और क्षय

आत्मा यदि निश्चय करले तो बांधे गये कर्मों का फल समभाव से

भुगत कर आगे वंध से विलग रह कर उनके क्षय का पुरुषार्थ कर सकती है। यह विज्ञान आपको वीतराग देव की वाणी से उपलब्ध हो सकेगा । पहले के वांधे हुए कर्मों का फल भोगे विना आत्मा का छुटकारा नहीं है, किन्तु जब उन वद्ध कर्मों का उदय हो और वे फल देने लगें तव शान्त भाव से एक ओर उस फल को सह लिया जाय तो दूसरी ओर ऐसी कोई वृत्ति या प्रवृत्ति नहीं अपनाई जावे जो फिर से जटिल कर्म-वन्धन करावे। वैसी अवस्था में साधारण रूप से कर्मों के उपशम तथा क्षय की ओर आत्मा की क्रियाशीलता वढ़ेगी। यह आत्मा और परमात्मा के वीच के अन्तर को मिटाने की प्रक्रिया होगी । इस प्रक्रिया के विज्ञान के लिये वीतराग वाणी के गहन अध्ययन एवं चिन्तन की आवश्यकता है ।

यदि वीतराग वाणी के मर्म को आपने पकड़ लिया तो कर्मों के बंध, फल एवं क्षय का रहस्य भी समझ में आ जायगा तथा उस पर अमल करना भी आसान हो जायगा । आत्मा जिन-जिन परिणामों के साथ जैसा-जैसा कार्य करने में अपनी शक्ति का अनुदान करती है, वैसा-वैसा उसका वन्धन होकर तदनुरूप फल की प्राप्ति होती है । वह फल जव उदय में आवे तो हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं, वल्कि समभाव से एवं निश्चल वुद्धि से यदि उस फल को स्वयं का ही कार्य मान कर सहन कर लिया तो आगे का कर्म-वन्ध अवरुद्ध हो जायगा क्योंकि वैसी आत्मा ऐसे नये परिणामों से भी अपने चित्त को चंचल नहीं वनने देगी जो नये कर्मों के वंधन के कारण वनें । यदि ऐसे पुरुषार्थ का आत्मा सदा ध्यान रखे तो वह सारे कर्मों को नष्ट करके उपर्युक्त अन्तर को पूर्णतया मिटा सकती है ।

जाना कहां है और आत्मा जा कहां रही है ?

यह स्वयं आत्मा को चिन्तन करना है कि वस्तुतः उसको जाना किस दिशा में है और वह जा कहां रही है ? आत्मा की पर्याय वदलती है। इस वक्त यह मानव पर्याय में रही हुई है तो किसी समय पशु पर्याय को भी धारण करती है । शुभाशुभ कर्मों के योग से चौरासी लाख योनियों में यह आत्मा भव-भ्रमण करती रहती है । किन्तु इस भ्रमण की कुंजी किसी और के पास नहीं, स्वयं आत्मा के पास ही है । जिस ओर वह सावधानी से या असावधानी से कुंजी घुमाती है, उस ओर ही वह चली जाती है । सावधानी से कुंजी तभी घुमाई जा सकती है जव सन्मार्ग का ज्ञान और आचरण का वल साथ में हो । तव कुंजी सही दिशा में घूमती है, वरना असावधानी में जिन विपरीत दिशाओं में कुंजी घूमती है, जिस प्रकार के कर्मों का वंध होता

 भोगना ही पड़ता है। यह फल

है, उसका फल चाहे विवेक से या अविवेक से भोगना ही पड़ता है। यह फल भी विवेक से भोगा तो फिर कर्म बन्ध का अवसर नहीं रहेगा तथा उस फल को भी यदि अविवेक से—आर्त्त व रौद्र ध्यानपूर्वक भोगा तो कर्म बंध की शृंखला चलती ही जायगी।

इस सारे विश्लेषण का अभिप्राय यह है कि इसकी रोशनी में आत्मा को विचार करना चाहिये कि उसको किधर किस दिशा में जाना है—किन वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों से दूर हटना है तथा किन के नजदीक पहुँचना है? यदि इन पर निर्णय लेने की क्षमता आत्मा में पैदा हो गई, तब तो वह स्व-नियंत्रण की धारा को पकड़ लेगी, वरना अविचार में बहती हुई वह कहां-कहां टकराती हुई पतन के किस गह्वर में पहुंच जायगी—इसका कोई अनुमान नहीं।

जीवन में अपने गन्तव्य का निश्चय इस आत्मा को करना है। यदि गन्तव्य की सही दिशा का निश्चय हो जाता है तो फिर भटकाव की स्थिति बहुत करके टल जाती है। इस निश्चय के लिये ही सोचना होता है कि परिवार के समीप जाना है या परमात्मा के समीप? मनुष्यता को अपनाना चाहते हैं या पशुता को? देव-योनि से सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं अथवा नरक के मेहमान बनना चाहते हैं? इस निश्चय के बाद यह देखना होता है कि जिन-जिन विचारों एवं आन्तरिक वृत्तियों में रमण किया जा रहा है, क्या वे उस निश्चय के अनुरूप हैं या नहीं? कहां जाने का निश्चय है और तैयारी कहां जाने की हो रही है—इसका पता तभी चलेगा।

गन्तव्य स्थान अपने ही अधीन

इस योनि को छोड़ कर कोई किस योनि के द्वार का उद्घाटन करेगा—इसका विज्ञान वह स्वयं प्राप्त कर सकता है। मनुष्य कभी सोचता है कि उसे अगले जन्म का ज्ञान कैसे हो? परन्तु जिस योनि में उसको जाने का हो, उसका उपाय वह पहले ही सोच ले। मैं तो ऐसे मनुष्य से यही कहूंगा कि अगले जन्म का ज्ञान वह कर सकता है, बल्कि किस जन्म में वह जाना चाहता है—वह गन्तव्य स्थान उसके स्वयं के अधीन में होता है। वीतराग वाणी का यदि सच्चे हृदय से अवलम्बन ग्रहण किया तो सारी वस्तुस्थिति के स्पष्ट होने में कोई विलम्ब नहीं लगेगा।

वीतराग देव ने किस योनि की प्राप्ति के क्या कारण बताये हैं, उन्हें देखना होगा। किस कर्म के आवरण से आत्मा किस गति में पहुँचती है तथा वे कर्म वह किस प्रकार से उपार्जन करती है—इसके स्पष्ट लक्ष शास्त्रकारों ने बताये हैं। अब उन्हीं लक्षणों को अपने जीवन के साथ घटाने का काम

रह जाता है। कोई मनुष्य किन लक्षणों के साथ जीवन जी रहा है, उन्हें परख कर यदि वह अनुमान लगावे तो पता चल जायगा कि उसका भविष्य क्या है? इसी आधार पर वह अपने भविष्य को अपने पराक्रम के आधार पर परिवर्तित भी कर सकता है। अच्छी गति के सम्बन्ध में समुचित पराक्रम किया जायगा तो वह श्रेष्ठ-गति प्राप्त करेगा तथा आगे भी यत्नशील रहा तो अपनी आत्मा का विकास करते हुए परमात्म-स्वरूप के समीप गति कर सकता है। भविष्य को स्वयं ने नहीं बनाया और भविष्य के हाथों का वह खिलौना बन गया तो उस की गति विपरीत दिशा में गिरती हुई चली जाती है। किन्तु यह स्पष्ट है कि आत्मा चाहे उस नियंत्रण को सम्हालने के योग्य बन सके अथवा नहीं— यह दूसरी बात है, परन्तु गन्तव्य स्थान का निश्चय करना एवं उस ओर गति करना स्वयं आत्मा की ही अधीनता में होता है।

गति किस ओर की जाय?

यहां गति-कर्म की दृष्टि से यदि चिन्तन किया जाय तो एक सबसे ऊपर की गति है और दूसरी सबसे नीचे की गति। ऊर्ध्वगति का ऊपरी छोर परमात्म-स्वरूप है जिसे उत्थान का चरम विन्दु कह सकते हैं तो निम्न गति नारकीय जीवन की ओर जाती है। जितना ऊर्ध्वगमन होता है, परमात्मा के समीप पहुंचना होता है, किन्तु जितना निम्न-गमन होता है, आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी उतनी ही बढ़ती जाती है।

गति के प्रेरक आठ कर्म माने गये हैं। इनमें से ज्ञानवरणीय कर्म ज्ञान शक्ति का दमन करने वाला है तो दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की दर्शन शक्ति को ढंक देता है। वेदनीय कर्म आत्मा को सुख दुःख का अनुभव कराता और मोहनीय कर्म आत्मा को मोहग्रस्त बना कर अपने स्वरूप का भान भुला देता है। आठों कर्मों में ये चार घनघाती कर्म कहलाते हैं और इन में भी मोहनीय कर्म सारे ही कर्मों की जड़ों को हरी-भरी बनाये रखता है। इसे कर्मों की माता कह सकते हैं, जो सभी कर्मों का पोषण करता है। जहां मोह है, ममत्व है, वहां कौन-सा अवगुण आने से बचेगा? गर्भस्थ शिशुओं की तरह मोहनीय कर्म अन्य सभी कर्मों का पोषण करता है। इसके साथ ही यह भी सही है कि यदि मोहनीय कर्म कमजोर पड़ता है तो अन्य सभी कर्म स्वतः ही ढीले पड़ जाते हैं। अन्य सारे कर्मों का उतार-चढ़ाव इस कारण मोह कर्म की तारतम्यता पर आधारित रहता है। मोह की तारतम्यता पर ही आयु कर्म का बन्ध होता है। यदि बहु-आरम्भ और परिग्रह-मोह रखा तो वह नरक का आयुष्य बांधेगा। कोई बहुत आरम्भ करता है अथवा परिग्रह का संचय

करता है तो उसके पीछे भी मोह-दशा की प्रबलता ही होती है । यह मोह की दशा विचित्र रूप में आत्मा को घेर कर खड़ी है—इसके कई रंग हैं और कई दृश्य । रूप-परिवर्तन की दृष्टि से यह मोह दशा बहुरूपिये की तरह आत्मा को बार-बार भुलावे में डालती रहती है । बहुत आरम्भ करने की तीव्रता भी उसी में होती है जिसको मोहनीय कर्म का उदय हो - उस दशा का पोषण करने के लिये ही मनुष्य चिन्तित बना रहता है कि उसे क्या-क्या तथा किस-किस प्रकार की भोग्य सामग्री चाहिये एवं उसे प्राप्त करने के लिये वह कैसे-कैसे उपाय करे ?

अतः गति किस ओर की जाय—यह आत्मा के लिये इन आठ कर्मो के कर्म-विपाक के सन्दर्भ में विचारणीय है । कर्म के लक्षणों को समझने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान में आत्मा किन लक्षणों में चल रही है और उनके अनुसार कर्मों के बंध कैसे होंगे तथा उनके फल का स्वरूप क्या होगा ? इस स्पष्टता के बाद आत्मा इस दिशा में अधिक सजगता के साथ सोच सकेगी कि गति किस ओर की जाय ?

पदार्थों का मोह और आन्तरिक शक्ति

मोहनीय कर्म की तीव्रता से भोग की लालसा उत्पन्न होती है और तब पदार्थों के संग्रह करने की वृत्ति जागती है । वैसी अवस्था में आत्मा पर-पदार्थों के पीछे दौड़ती है तथा अपनी आन्तरिक शक्ति को भूलती जाती है । पर-पदार्थों के मोह में वह विभिन्न कषाय वृत्तियों में उलझती है और अपने स्वरूप को कर्मों के बोझ से बोझिल बना देती है, जब कि वस्तुतः ये दृश्य-पदार्थ मोहक नहीं होते—सड़ने, गलने और नष्ट होने वाले पुद्गल मात्र होते हैं । उन में मोहकता आत्मा को मोह कर्म के उदय से ही प्रतीत होती है।

कभी आपने देखा होगा कि जंगल में मृत पशुओं के अस्थि-पंजर पड़े होते हैं, किन्तु कुत्ता उन हड्डियों को भी बड़े लोभ से चबाता है । उसका सोचना तो यह होता होगा कि उस हड्डी से उसे रक्त मिलेगा जिसे पीकर वह तृप्त होगा । किन्तु असल में होता क्या है कि कठोर हड्डी को चबाते रहने से स्वयं उसी के दांतों से खून निकलता है, जिसे ही पीकर वह समझता है कि उस हड्डी से खून मिल रहा है । पदार्थों के मोह की ऐसी ही दशा होती है । क्या सूखी हड्डी में खून होता है ? यह कुत्ते की मोह दशा होती है कि वह फिर भी उसी हड्डी को चाटता रहता है ।

मोहदशा की इसी नग्नता के दर्शन आपको अनेकानेक संसारी आत्माओं में हो सकेंगे । अधिकांश आत्माएं इन पर-पदार्थों के प्रति लालायित होकर यह

सोचती हैं कि ये पदार्थ तो हमको सुख पहुंचाने वाले हैं—आनन्द देने वाले हैं। किन्तु सोचिये कि क्या सुख लेंगे वे ? उस कुत्ते के द्वारा सूखी हड्डी चबाने की तरह ही तो सुख लेंगे और वैसा सुख लेने में जिस प्रकार मानव जीवन को नष्ट किया जा रहा है और आत्मा को पतन की ओर धकेला जा रहा है, वह कहां तक उचित है ?

किन्तु जब तक इस पदार्थ-सुख की भीतरी नग्नता पर गंभीर विचार नहीं किया जायगा, तब तक आन्तरिक शक्ति के जागरण की संभावना नहीं मानी जा सकती है । पदार्थों के मोह से ही अति-आरंभ करने को मनुष्य तत्पर हो जाते हैं बल्कि महारंभ तक के लिये उतारू हो जाते हैं । आन्तरिक शक्ति की अनुभूति इस पदार्थ-मोह से दूर हटने पर ही होती है क्योंकि उसके बाद ही आत्मा को हिताहित का भान पैदा होता है ।

आगामी जीवन का नक्शा

पदार्थ-मोह एवं आन्तरिक शक्ति की अवस्थाओं के बीच में ही आगामी जीवन का नक्शा तैयार होता है । दर्पण में आप जैसे अपनी आकृति को देखते हैं और उसके रूप-स्वरूप को बनाने की चिन्ता करते हैं, उससे भी अधिक लगन से अपने मन को अपने ही परिणामों के दर्पण में शुद्ध बुद्धि से देखने का प्रयत्न करें तो उसमें आगामी जीवन का प्रतिबिम्ब अवश्य ही दिखाई देगा । मन के दर्पण में यदि यह दीखे कि महारंभ की दशा आगई है, तीव्रता बढ़ी है, दूसरों को नष्ट करने की भावना चल रही है, आर्त और रौद्र ध्यान पनप रहा है तथा कर्मों का संचय हो रहा है तो उस समय में आयुष्य का बंध होने पर नरक के आयुष्य को निश्चित माना जा सकता है । परिणामों की अत्यन्त निकाचित स्थिति हुई तो वह सातवीं नरक में भी पहुंच सकता है ।

अब सोचिये, कहां सिद्ध परमात्मा का स्वरूप और कहां सातवीं नरक का पतन ? किन्तु सातवीं नरक में जो जाना बनता है, वह प्रयत्न किसका है ? क्या इसी आत्मा के सिवाय किसी अन्य का तो वह प्रयत्न नहीं है ? निश्चय ही यह आत्मा का ही प्रयत्न होता हैं । जैसा स्वयं ने कर्म किया, वैसा फल भोगना ही पड़ता है । आपने तंदुल मच्छ का उल्लेख तो सुना ही होगा । इस मच्छ का शरीर चावल जितना होता है किन्तु वह बड़े मच्छ की भौंहों में रहता है । वह वहां से देखता है कि जब बड़ा मच्छ मुंह फाड़ कर पानी में पड़ा आराम करता है और पानी की हिलोरों के साथ कई मच्छ, मच्छियां उसके मुंह में आते-जाते रहते हैं, किन्तु वह बड़ा मच्छ उसी तरह पड़ा रहता है । तब तंदुल मच्छ सोचता है कि यह बड़ा मच्छ महामूर्ख है ।

इतनी भक्ष्य-सामग्री इसके मुंह में पहुंच रही है और यह इनका भक्षण नहीं करता है। वह छोटा मच्छ इस विचार से ही महारंभी बन जाता है कि यदि वह उसके स्थान पर होता तो एक भी जन्तु को अपने मुंह से बाहर नहीं निकलने देता। इस विचार की तीव्रता में यदि उसके आयुष्य का बंध होता है तो वह सातवीं नरक में पहुंच जाता है। मध्य लोक में रह कर वह परमात्मा के अधिक समीप था लेकिन महारंभी बन कर और वह भी व्यर्थ में—परमात्मा से बहुत दूर चला जाता है। अतः जैसी जिसकी भावना बनती है, वैसा ही उसके आगामी जीवन का नक्शा तैयार हो जाता है।

मन-बंध और मोक्ष का कारण

इस नक्शे को अच्छा बनाना या बुरा बनाना— यह मन पर निर्भर करता है। इसी कारण मन को बन्ध या मोक्ष का कारण माना है। मन नियंत्रित न हो तो वह कर्मों का बंध करा सकता है और यदि वह नियंत्रण तथा विवेक से काम करे तो अडिग बन कर कर्मों के क्षय के लिये भी क्रियाशील बन सकता है। इसी मन के द्वारा मानव क्रूर भी बन सकता है तो मृदु भी बन सकता है। कई लोग शंका उठाते हैं कि यदि मन ही सब कुछ हो गया और मन में पाप नहीं रखें तथा काया कुछ भी करे तब तो कोई बात नहीं। यह उनकी अनुभवहीन शंका होती है। मन ही कार्य को प्रेरित करता है। मन में पाप नहीं तो कार्य में पाप आ कैसे सकेगा ?

मन की भी तीन श्रेणियां मानी गई हैं। जो तरह-तरह के मन में संकल्प-विकल्प उठते हैं और भावनाओं की लहरें चलती हैं, उन सबका वर्गीकरण तीन भागों में किया जा सकता है। मानव-मन में जब मलिन भाव आता है द्वेष और कषाय युक्त—किन्तु यदि उसमें तीव्रता नहीं है तो वह इतना दुर्बल भाव होता है जो वाणी में भी परिणत नहीं हो पाता है। इसलिये वैसे मन की स्थिति जघन्य कर्म का बंध करती है। दूसरे, मन के भावों में मलिन भावों की इतनी तीव्रता आई कि वह वचन में परिणत हो गई किन्तु कार्य रूप में परिणत नहीं हो सकी याने कि उसमें काया का साधन काम नहीं आया तो यह पहले की स्थिति से तीव्रतर स्थिति हुई। जहां वह तीव्रता इतनी बढ़ जावे कि मन, वचन और काया के साधनों को भी प्रेरित कर दे तो वह तीव्रतम स्थिति होती है तथा चिकने कर्मों का उस स्थिति में बंध होता है। इन स्थितियों में परिणामों की तीव्रता भी देखनी होगी। यदि अत्यन्त निकाचित परिणाम हैं तो नरक गति का आयुष्य बंध जाता है अन्यथा उससे ऊपर की गतियों का।

प्रश्न यह है कि विचारों की तीव्रता वचन और काया द्वारा कार्यान्वित करा दी जाय—यह शक्ति मन की होती है। अशुभ भावना की अति के साथ इस तरह मन नरक में भी ले जाता है तो शुभ भावना के साथ वह आत्मा को ऊर्ध्वगामी भी बना सकता है। मन कर्म जुड़ाता भी है तो कर्म तुड़ाता भी है तथा उसी के आधार पर नरक से लेकर स्वर्ग एवं मोक्ष तक भी पहुँचाता है।

भावों का संसार निराला होता है

आपने प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का आख्यान तो सुना ही होगा। वे महात्मा ध्यानस्थ खड़े थे। तभी मगध-सम्राट श्रेणिक के दो अनुचर—सुमुख और दुर्मुख मार्ग व्यवस्था के निमित्त से उधर से निकले, क्योंकि सम्राट् को भगवान् के समवशरण में जाना था। ध्यान-मुद्रा में उन महात्मा को देख कर सुमुख ने कहा—अहो, ये कैसे दिव्य पुरुष हैं जिन्होंने संसार का त्याग करके कठिन मुनिधर्म अंगीकार किया। उसकी स्तुति के वे शब्द ध्यानस्थ मुनि के कानों में पहुंचे। तब तक उनके मन में मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का स्थान था, अतः वे प्रमुदित होकर सोचने लगे कि उनके त्याग की कैसी प्रशंसा हो रही है! दूसरे ही क्षण दुर्मुख ने कहा—मित्र, तुम कैसे व्यक्ति की प्रशंसा कर रहे हो—यह तो अत्यन्त निर्दयी था जिसने अपने कर्त्तव्य का भी पालन नहीं किया और साधु बन गया। ये शब्द भी मुनि के कानों में गये कि यह व्यक्ति उनके कर्त्तव्य पालन की आलोचना इसलिये कर रहा है कि वे अपने छोटे राजकुमार को पांच सौ दीवानों के संरक्षण में छोड़ आये हैं जो उसकी हत्या का षड्यंत्र कर रहे हैं। यह सुन कर उनके मन में अपने बच्चे के प्रति मोह के भाव उमड़ आये। मन ही मन वे ऐसी स्थिति में पहुंच गये जैसे कि उन्होंने उन पांच सौ दीवानों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया हो और अपने तीर से चार सौ निन्नानवे दीवानों के सिर उड़ा दिये हों।

इस मनःस्थिति में आरंभ और अल्प आरंभ की स्थिति चल रही है कि मन के सिवाय वचन या काया का साधन कुछ भी काम नहीं कर रहा है, फिर भी केवल यह मानसिक प्रक्रिया भी कर्म-बंध का कारण बनती है। कर्म-बंध भी महारंभ के रूपक के समान होता है। यद्यपि युद्ध की क्रिया केवल मानसिक धरातल पर ही हुई, फिर भी निकाचित परिणामों के कारण उनके नरक का बंध होने वाला था।

किन्तु इसी बीच उन्हें लगा कि अब तो एक ही बाण बचा है तथा एक दीवान भी बचा है सो अगर वह इस बाण से न मारा जा सके तो अपने

सिर के तीखे टोप से उसे मारना होगा । इस विचार में जब उन्होंने अपने सिर को सम्हाला तो तुरन्त उनका ध्यान बंधा कि यह क्या, मेरा सिर तो नंगा है—मैं तो मुनि बन चुका हूं, फिर मैं किन संकल्पों—विकल्पों में पड़ गया हूं। इस तरह उनकी विचार-सरणि ऊपर चढ़ती गई ।

तभी श्रेणिक भगवान् के पास पहुंचे और उन्होंने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र की गति के विषय में प्रश्न पूछा। तब पहले क्षण में भगवान् ने कहा कि यदि इस वक्त उनके आयुष्य का बन्धन होता है तो नरक का बंधन होगा, किन्तु दूसरे ही क्षण कहा कि अब की भावस्थिति में स्वर्ग का बंधन होगा। मानसिक विचारों की तारतम्यता पर ही इस प्रकार आगे के जन्म का नक्शा बनता है। मन की शक्ति ही पतित बनाती है तो वही शक्ति उद्बोधित भी करती है। मन-परिवर्तन के साथ पाप भी पुण्य में परिवर्तित हो जाता ।

अल्पारंभ और महारंभ का भेद

कर्म-बंध के क्षेत्र में मन की ही भूमिका प्रमुख होती है । देखना यह होता है उसकी तीव्रता किस श्रेणी में है ? वह श्रेणी पहली जघन्य है, मध्यम है या उत्कृष्ट है ? कर्मों का दृष्टिकोण यह सोचने का होता है कि जब तक तीव्रता का विस्तार नहीं होता है तब तक फिर भी कर्म-बंध की डोर अपने हाथ में रहती है । अधिक तीव्रता में फिर भान भूल कर मामला नियंत्रण से बाहर चला जाता है ।

इसी संदर्भ में आरंभ की स्थिति का प्रसंग आता है कि किसको अल्पारंभ कहना और किसको महारंभ ? इस विषय में भी कई भ्रान्तियां फैली हुई हैं । कई लोग सोचते हैं कि महारंभ वहीं है जहां पृथ्वीकाय को सता रहे हैं याने कि किसान पृथ्वी पर खेती का कार्य कर रहा है और पृथ्वीकाय के जीवों के अलावा जल, अग्नि, वनस्पति तथा त्रस जीव भी मर रहे हैं, अत किसान महारंभी होता है । अगर किसान महारंभी होता है तो वह नरक जाता है । किन्तु ऐसी धारणा वे सामान्यजन करते हैं, जिनका गहरा चि
नहीं होता ।

गंभीरतापूर्वक विचार करें कि महारंभ क्या है ? एक तो हो अन्तर
रही है और एक हिंसा की जा रही है—इन दोनों स्थितियों में—जीवों
होता है । जो किसान खेती कर रहा है, वह क्या भावना र किस भावना
को मारने की या आजीविका हेतु अन्नोत्पादन की ? किसान मारने की दृष्टि
से सम्बन्ध है यह देखने की बात होती है । वह जीवों ती है, वह लाचारी
से मारता नहीं । खेती के उद्देश्य से जो उससे हिंसा हो

वश हो रही है जिसे महारंभ की श्रेणी में नहीं ले सकते हैं। अतः भावना के आधार से ही महारंभ या अल्पारंभ का निर्णय किया जाना चाहिये।

भावना का स्थान प्रमुख

कर्म-बन्ध की स्थिति में इस दृष्टि से भावना का स्थान प्रमुख होता है। मैं इसके लिये शास्त्रीय प्रमाण आपको बताता हूं। आनन्दजी श्रावक के पास पांच सौ हल जमीन थी। एक हल अढाई बीघे का माना जाता था। इतनी जमीन थी तो उतने ही खेती के साधन उनके पास थे। इसके साथ ही चालीस हजार गायों का गोकुल भी उनके पास था। अब आप ही सोचिये कि इतने बड़े कृषि कार्य में छः काया के कितने जीवों का आरंभ-समारंभ होता होगा? इस दृष्टि से क्या आनन्द श्रावक को महारंभी की पदवी दी जा सकती है? इसमें शास्त्रकारों का कथन है कि वहां बहुत आरंभ था किन्तु उनका सकल्प जीवों को इरादे से मारने का नहीं था। उनको जो प्रत्याख्यान था, वह यह था कि निरपेक्ष संकल्प करके और चलते-फिरते जीवों को नहीं मारना तथा उनके लिये विरोधी व आरंभिया-हिंसा—दोनों खुली थीं, परन्तु खुली रखने पर भी वे लाचारी का अनुभव करते थे। वे भावना भाते थे कि वह दिन धन्य होगा जब मैं इस विरोधी व आरंभिया हिंसा को भी त्याग कर क्षान्त, दान्त और निरारंभी बन कर चल सकूंगा। इस भावना के कारण वे सद्गति में ही गये। महारंभ की स्थिति का मूल्यांकन भावना के आधार पर ही किया जाता है।

यदि कृषि आदि कार्यों को महारंभ के दौर में ही मानते तो क्या गृहस्थ में रहते हुए भी भगवान् ऋषभदेव असि, मसि एवं कृषि की कलाओं को सबको बताते व सिखाते? गृहस्थ अवस्था में भी तो वे तीन ज्ञान के धारक थे। उन्होंने ये कलाएं प्रजा को बताईं तो क्या उन्होंने महारंभ का मार्ग सब को बताया? कृषि आर्य-व्यवसाय है और उन्होंने इस व्यवसाय को बता कर लोगों को जो कर्म-भूमि पर उतारा, उसके पीछे प्रजा के साथ उनकी हित-कामना ही तो थी।

इस कारण महारंभ की स्थिति कब बनती है और अल्पारंभ की कब बनती है—इसके लिये सारी परिस्थितियों के साथ प्रमुख रूप से कर्म-[illegible]त भावना को देखना प्राथमिकता से आवश्यक होता है।

[illegible] का मूलाधार

[illegible] विपाक का मूलाधार मन के परिणामों की तीव्रता के तारतम्य पर टिका होता। जब मन में जीवों को मारने के परिणामों की तीव्रता उग्रतम बन जाती [illegible] तो एक भी बीघा जमीन नहीं होने तथा प्रत्यक्षतः एक

चींटी की भी टांग नहीं तोड़ने पर भी वह महारंभी वन जाता है । इसके विपरीत भारी ऋद्धि-सिद्धि एवं वैभव के साथ चलने पर भी यदि उसके मन में निरपेक्ष भाव है तो वह महारंभी नहीं वनता । भरत महाराज और स्वर्णकार का रूपक आप जानते हैं कि जहां भरत के पास छः खंड का चक्रवर्ती साम्राज्य था और स्वर्णकार के पास एक वक्त की भोजन सामग्री भी नहीं थी तव भी मन की कुत्सित कल्पनाओं के कारण वह स्वर्णकार महारंभी वन गया और भरत महारंभी नहीं थे । जो तीन भूमिकाओं में जहां तीसरी श्रेणी की निम्न भूमिका और तीव्रतम परिणामों में चले जाते हैं, ये चाहे मन ही मन हिंसा करें, फिर भी आक्रान्ता कहलाते हैं ।

मन की भावनाओं के इस आधार को पकड़ कर ही कर्म विपाक के स्वरूप को समझना चाहिये तथा यह भी अनुमान लगाना चाहिये कि तदनुसार आत्मा की गति परमात्मा के समीप जाने की दिशा में हो रही है अथवा उनसे दूर भागने की दिशा में ? जहां वहुत आरंभ की भावना है, वहां वहुत कर्मों का उपार्जन है । यदि वृत्ति निरपेक्ष है तो वाहर का वैभव होते हुए भी गहरे कर्म-वंध का कारण नहीं वनता है । कर्म-विपाक के इस मूल दृष्टि-विन्दु को ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि मन को जिस दशा में रखा जायगा, सर्वाधिक प्रभाव उसी दशा का पड़ेगा ।

परिणामों की तीव्रता पर नियंत्रण रखें

यदि अपने भविष्य को उन्नतिशील वनाना है तो मन के परिणामों की तीव्रता पर कड़ा नियंत्रण रखना होगा । जहां मन के परिणामों को स्वच्छन्दता दे दी जाती है, वहां कौन-सा अनर्थ घटित नहीं होता ? उत्तेजना के समक्ष उत्तेजित नहीं होना तथा परिणामों की तीव्रता पर नियंत्रण रखना—यही विवेकशील आत्मा की विशेषता होती है ।

प्रत्येक भव्य आत्मा का इस दृष्टि से यह पवित्र कर्त्तव्य होना चाहिये कि मन की चंचलता का विरोध करते हुए उसके परिणामों को उत्तेजित एवं तीव्र नहीं होने दे । यदि ऐसी धीरता और गंभीरता की वृत्ति का अभ्यास कर लिया जाय तो आत्मा महारंभ और निकाचित कर्मवंध से अपने आपको वचा सकती है । कर्म-विपाक की इस दृष्टि से यह निश्चय समझिये कि फिर आत्मा और परमात्मा के वीच की दूरी कम होती जायगी ।

●●●

परिग्रह की मूर्च्छा : नरक की यातना



अठारहवां प्रवचन

दिनांक १४ अक्टूबर, १९७२

प्रवचनस्थल—लाल भवन

जयपुर (राजस्थान)

"पदम प्रभु जिन तुज मुज आंतर रे..............."

पद्म प्रभु की प्रार्थना के माध्यम से आत्मा और परमात्मा के बीच के अन्तर को दूर करने की दृष्टि चारों ओर फैलाई जा रही है तथा कर्म-विपाक पर अभी चिन्तन चल रहा है। कर्मों ने जो आत्मा के बीच में अपनी दीवारें खड़ी कर दी हैं, उनके कारणों पर पूरा विचार किया जाना चाहिये क्योंकि कर्मों के कारण यदि विद्यमान हैं तो उनका बंध होगा ही और उसका फल आत्मा को भोगना ही पड़ेगा। कर्मों का फल जिस वक्त भोगा जायगा, उस वक्त परमात्मा से दूर हटने की स्थिति पैदा होगी। इसलिये कर्म-विपाक हटाना है तो कर्मों के कारणों को पहले रोकना होगा।

यदि किसी वस्तु की फसल नहीं उगानी है तो उसके बीज से भी कोई सम्बन्ध नहीं रखना होगा। वैसे ही बीज रूप कर्मों के कारणों से दूर हट जाइये, फिर पूर्व के किये हुए कर्मों के अंकुर उगें तो उन्हें उखाड़ दीजिये, तब इस विपाक का अनुभव नहीं होगा। वह उखाड़ने का कार्य कर्मों के बंध के निमित्त को ध्यान में रख कर किया जाए, तभी सफल हो सकते हैं।

जहां नरक के आयुष्य बंधन का ही प्रश्न है, उसके कारणों को ध्यान में ले लेना चाहिये कि कैसे कोई आत्मा नरक योनि में जा सकती है तथा कैसे वह वहां की यातनाओं को बर्दाश्त कर सकती है? इन कारणों को यदि जान कर रोक दिया जाता है तो वैसे आयुष्य-बंधन को भी रोका जा सकता है। नरक की यातनाओं का वर्णन बड़ा ही लोमहर्षक माना गया है, जिसे सुन कर भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अतः प्रत्येक आत्मा यह चाहेगी कि ऐसी भीषण यातनाओं वाली योनि का उनको आयुष्य नहीं बंधे, किन्तु कोरा चाहने से कुछ नहीं होगा। नरक के आयुष्य के बंधने के कारणों को जान कर तद-नुसार अपनी वृत्तियां रखेंगे तब कारणों का निरोध होने से उस आयुष्य-बंध का निरोध हो सकेगा। यदि इरादे से नरक के योग्य कारणों से कर्मों का सम्पादन कर लिया तो उसे नरक का फल भोगना ही होगा।

बंधे का फल नहीं छूटता

एक वक्त यदि कर्मों का निकाचित बंध हो गया तो उसका नरक का फल छूट नहीं सकता है । कितना ही कुछ उपाय किया जाय, परन्तु निकाचित कर्म-बन्धन में परिवर्तन नहीं आ सकता है । मगध सम्राट श्रेणिक के एक वक्त जब निकाचित कर्म बंध का सम्बन्ध आ गया और वीतराग देव ने उनके नरकगामी होने की भविष्यवाणी कर दी, तब श्रेणिक ने इस बंध को तोड़ने के लिये बहुतेरा प्रयास किया किन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली । यह स्थिति नरक के निकाचित कर्म-बंध के सम्बन्ध में है । किन्तु अन्य बंधनों का परिवर्तन करना मनुष्य के हाथ में है और बंधनों को मजबूत बनाना भी उसी के हाथ में होता है । वह जैसा चाहे, उस कर्म में परिवर्तन, परिवर्धन, संक्रमण आदि क्रियाएं कर सकता है । परन्तु जो निकाचन बंध गये हैं, इस विषय में वह परिवर्तन नहीं कर सकता । निकाचित कर्म-बंधन के कारण उसके सामने आते हैं और उन कारणों को यदि वह नारकीय यातनाओं के साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखे और उन कारणों से बंध-समय से ही अलग हट जाए तो नरक का बंध नहीं होने पायेगा ।

नरक का आयुष्य-बंध और परिग्रह

नरक के आयुष्य-बंध के सम्बन्ध में दो प्रमुख कारण बताये गये हैं — एक बहुत आरंभ और दूसरा बहुत परिग्रह । आरंभ, महारंभ और अल्पारंभ के सम्बन्ध में कुछ विचार किया गया है, आज परिग्रह की स्थिति से कुछ विचार करेंगे ।

परिग्रह की स्थिति का प्रसंग क्या है ? सब और परिग्रह शब्द तो प्रचलित है और इसके पीछे संघर्ष भी चल रहे हैं किन्तु परिग्रह की सही परिभाषा का ध्यान बहुत कम को होगा । परिग्रह के लिये कहा जाता है कि इसने संसार में विषम परिस्थितियों की रचना की है तो ऊंच-नीच की दीवारें खड़ी करने वाला भी यही परिग्रह है । परिग्रह ही एक दूसरे का तिरस्कार करता है और सब पापों की जड़ के रूप में परिग्रह के ममत्व से ही यह आत्मा जन्म-मरण के चक्र में भटकती है ।

किन्तु इस परिग्रह की परिभाषा क्या है—यह पहले विचारणीय है, क्योंकि सही परिभाषा से ही उसका सही स्वरूप समझ में आयेगा तथा सही स्वरूप जान कर ही उससे बचा भी जा सकेगा । शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार परिग्रह की परिभाषा की गई है—

"परिगृह्यते इति परिग्रहः"

अर्थात् जो ग्रहण किया जावे, उसका नाम परिग्रह है। किन्तु भावार्थ की कसौटी पर कसें तो यह परिभाषा सही नहीं उतरती है क्योंकि ग्रहण करने मात्र से यदि परिग्रह लग जाये तो सिद्धों के सिवाय कोई भी आत्मा परिग्रह-रहित नहीं हो सकेगी। जहां तक ग्रहण करने का प्रसंग हैं सो संसार के पदार्थ भी ग्रहण ही किये जा रहे हैं और कदाचित् किसी ने संसार के पदार्थों का त्याग करके मुनिव्रत भी धारण कर लिया, तब भी मुनि अवस्था में भोजन, वस्त्र, उपकरण आदि ग्रहण किये ही जाते हैं। तब मुनि अपरिग्रही कैसे कहला सकेंगे ? मुनि ही क्या—केवली भी इस परिभाषा से परिग्रही नहीं कहला सकेंगे क्योंकि केवली भी भोजन, मकान आदि तो ग्रहण करते ही हैं। इरियावही की दृष्टि से साता वेदनीय कर्म को भी वे ग्रहण करते हैं। यह अवस्था चौदह गुणस्थान के अन्तिम छोर तक पहुंचती है। इस परिभाषा को शास्त्रकारों ने भी नहीं माना है। अतः शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार परिग्रह की परिभाषा अर्थपूर्ण नहीं बनती है।

परिग्रह की वास्तविक परिभाषा

परिग्रह की सही व्याख्या तत्त्वार्थ सूत्र में की गई है और उस परिभाषा के लिये कहा जा सकता है कि वह शब्द का पूर्ण भावात्मक अर्थ प्रस्तुत करती है। परिभाषा इस प्रकार है—

"मूर्च्छा परिग्रह !"

अर्थात् जो मन की मूर्च्छा और मन का ममत्त्व किन्हीं पदार्थों के प्रति है, वही वास्तव में परिग्रह है। जिसमें मूर्च्छा है, आसक्ति है, गाढ़ आत्मा का लगाव है, वही परिग्रही होता है। जो मूर्च्छा की दृष्टि से चलता है तो पदार्थ मूर्च्छा से उसके साथ लागू हो जाते हैं और उसके लिये परिग्रह बन जाते हैं।

सर्वथा मान्य परिभाषा यह इसलिये है कि यह परिग्रह के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करती है। यों तो इस संसार में अगणित प्रकार के पदार्थ रहे हुए हैं, किन्तु जिनके प्रति जो अपने मन में लालसा जगाता है, वे-वे पदार्थ उसके लिये परिग्रह का रूप धारण करते हैं, कारण कि उसकी मूर्च्छा उन पदार्थों में पैदा हुई है। वे पदार्थ चाहे उसके हस्तगत हों या उन्हें पाने की उसे तृष्णा मात्र ही हो, उसके ममत्त्व क्षेत्र में आ जाते हैं। दूसरी ओर विशाल वैभव और पदार्थों का अम्बार स्वयं की अधीनता में हो किन्तु उनके प्रति मन में मूर्च्छा न हो, तृष्णागत लगाव न हो— ममत्त्व न हो तो द्रव्य-परिग्रह पास में होते हुए भी भाव-परिग्रह से वह मुक्त कहलायेगा।

इस परिभाषा से इन्सान यदि सोचने बैठे तो इसके भेद प्रभेद समझ में आ सकते हैं। इस समझ के साथ ही वह बन्धन से बच सकता है। मुख्यतया परिग्रह का आधार मानसिक है। मन में परिग्रह यदि रचा-पचा है, उसकी प्राप्ति के लिये विविध संकल्प-विकल्प एवं परिणामों की तीव्रता है तो स्थूल परिग्रह की उपलब्धि होवे या नहीं, वह मन ही मन बहुल परिग्रह हो जायगा तथा वैसी मनोदशा में वह नरक के आयुष्य का भी बंध कर सकता है।

परिग्रही और अपरिग्रही कौन ?

परिग्रह की इस परिभाषा के अनुसार परिग्रही और अपरिग्रही का निर्णय प्रत्येक की मनोदशा के आधार पर ही लिया जा सकता है। साधारण रूप से साधु को अपरिग्रही कहा जा सकता है क्योंकि संयम के रक्षार्थ उपकरण—रजोहरण, पात्र, वस्त्र (मर्यादित ७२ हाथ) आदि के सिवाय वह सारे द्रव्य-परिग्रह का परित्याग कर देता है। इन उपकरणों में भी साधु-जीवन के लिये किसी प्रकार से मूर्च्छा की भावना बनाने का प्रसंग नहीं रहना चाहिये। इस निरपेक्ष भावना के साथ जब साधु अपरिग्रही होकर संयम-साधना में लगता है तो उसके लिये नरक के द्वार बन्द हो जाते हैं।

अब प्रश्न गृहस्थ का आता है। गृहस्थ-वर्ग में जहां तक ग्रहण करने की नीति है, वहां तक तो उसके नरक का अवसर नहीं है। परन्तु गृहीत पदार्थों में जहां मूर्च्छा का भाव आता है, तब मन की दशा मलिन बनने लगती है। फिर भी वह मूर्च्छा का भाव जब तक साधारण अवस्था में रहता है तब तक नरक के आयुष्य-बंध का अवसर नहीं आता है। नरक की स्थिति तो तब बनती है जब उसको मूर्च्छा का भाव अति जटिल बन कर उसे बहुल परिग्रही बना देता है। यदि वह खेत, वस्तु, धन, धान्य आदि नौ प्रकार के परिग्रह पदार्थों की अपने या अपने परिवार के लिये मर्यादा करके अनासक्त-भाव से चलता है तो उसके नरक का आयुष्य नहीं बंध सकता। ये नौ प्रकार के पदार्थ चाहे उसके पास अल्प मात्रा में हों अथवा बहुल मात्रा में, क्योंकि परिभाषा में मात्रा का कोई अंकन नहीं है। बाह्य परिग्रह कितना भी हो अथवा नहीं हो—वह मनुष्य परिग्रही अथवा अपरिग्रही नहीं बनता, परन्तु परिग्रह के पीछे उसके मन का लगाव—आसक्ति भाव कितना है—परिग्रही अथवा अपरिग्रही बनाने के पीछे मुख्य विषय यही देखने का होता है।

भावना के बन्धनों की जकड़

एक व्यक्ति के पास आवश्यकता के अनुसार साधन सामग्री है। उसने अपने जीवन निर्वाह के सिवाय अपने परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के प्रति भी

अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह की दृष्टि से साधन सामग्री एकत्रित कर रखी है परन्तु मन में यह चिन्तन करता है कि यह साधन सामग्री इस गृहस्थ अवस्था की दृष्टि से उपयोग में लेने योग्य है, किन्तु मैं अपने मन को इसमें किसी तरह से अटकाने वाला नहीं हूं। आवश्यकता से यह सम्पत्ति मेरे पास है किन्तु आसक्ति से इसका मैं अस्तित्व ही नहीं मानता। अपने पास है तो निरपेक्ष भाव से इसका उपयोग है और नहीं रहे तो उसका जी में कोई खेद नहीं क्योंकि जिसके प्रति ममत्व नहीं तो उसके न रहने का खेद भी नहीं होगा। अनासक्त भावना ऐसी ही होती है। वह यदि ऐसे अनासक्त भाव से निजत्व को परिग्रह से ऊपर उठा कर चलता है तो वह गृहस्थ होते हुए भी अपरिग्रही अवस्था में माना जा सकता है। वह नरकगामी नहीं बन सकता है।

शास्त्रीय शब्दों में यदि श्रावक व्रत की भूमिका में वह अपने शुद्ध अध्यवसायों को लेकर चलता है तो उस अवस्था में आयुष्य का बंध होने पर वह स्वर्ग के आयुष्य का बंध करता है। यदि आराधक भाव से श्रावक-व्रत में आयुष्य बांधता है तो जघन्य कम से कम पहले स्वर्ग का और अधिक से अधिक बारहवें स्वर्ग का आयुष्य वह बांधेगा।

इस प्रकार भावना के बन्धनों की जकड़ ही मुख्य जकड़ होती है। श्रावकों के जैसे वैभव का शास्त्रों में वर्णन आया है, उतनी विशाल सम्पत्ति के रखते हुए भी वे भावना की जकड़ से दूर रहते थे— इसलिये जटिल परिग्रही नहीं बनते थे। भावना में मूर्च्छा तथा आसक्ति नहीं लाने की दृष्टि से ही वे सारे वैभव के स्वामित्व के बावजूद नरकगामी नहीं बन सकते थे। यह तो श्रावक की स्थिति है।

परन्तु कल्पना करें कि एक राष्ट्र का बड़ा नेता है, राष्ट्रपति के पद पर है, किन्तु यदि वह राष्ट्र की सम्पत्ति एवं सत्ता से अपने को कतई बांध कर नहीं चलता है तो क्या वह नरक के आयुष्य का बंध करेगा? राष्ट्रपति तो एक ही राष्ट्र का स्वामी होता है, किन्तु चक्रवर्ती सम्राट तो छः खंडों का अधिपति होता है— उसकी व्यापक सत्ता एवं विशाल सम्पत्ति का तो क्या कहना—किन्तु यदि वह भी उसकी मूर्च्छा में अपने आपको ग्रस्त नहीं बनाता है तथा अपने जीवन को जल में कमलवत् ले जाता है तो उसके भी नरक के आयुष्य—बंध का अवसर नहीं रहता है। भरत चक्रवर्ती का उदाहरण आप जानते ही हैं तथा उनके तेल के कटोरे की कहानी भी—जिससे प्रकट होता है कि जहां परिग्रह के अस्तित्व के बावजूद उसके प्रति ममत्व नहीं है, वहां परिग्रही होने की स्थिति नहीं है। इसके विपरीत परिग्रह अपने पास नहीं होते हुए

भी परिग्रह के प्रति यदि जटिल मूर्च्छा, लालसा और तृष्णा है तो वह बाहर से परिग्रही नहीं होते हुए भी मन से बहुत परिग्रही बन जाता है और नरकायुष्य का बंध कर लेता है।

सम्राट भी अपरिग्रही हो सकता है

सत्ता एवं सम्पत्ति के बहुल स्वामित्व के होते हुए भी चक्रवर्ती सम्राट् भी यदि उस सम्पूर्ण परिग्रह के प्रति मूर्च्छा रहित भाव लेकर चलता है तो अपने मानसिक धरातल पर अपरिग्रही हो सकता है। इसका कारण है कि वह सम्यक्-दृष्टि बन कर हेय, ज्ञेय एवं उपादेय तत्त्वों को समझता है तथा तदनुकूल अपने आचरण को ढालता है। जो दिखाई देता है, कई बार वास्तविकता उससे कतई भिन्न होती है। यह बाहर की दुनिया विचारों की दुनिया से इसीलिये कई बार अलग-सी बन जाती है और तब जानकारी में आश्चर्य का अनुभव होता है। यही कारण है कि जब तक गहराई से नहीं देखें, वस्तुस्थिति का सच्चा परिचय नहीं मिलता है। अतः एक ओर चक्रवर्ती सम्राट् भी भावना के धरातल पर अपने आन्तरिक जीवन की दृष्टि से स्वर्ग और मोक्षगामी तक बन सकता है तो दूसरी ओर यदि वह अपनी सत्ता और संपत्ति में बाहर की बहुलता की तरह अपनी अन्दर की मूर्च्छा में भी बहुलता रखता है तो उन निकाचित कर्मों के बंधनों के फलस्वरूप वह नरक का मेहमान बन जाता है।

जहां ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के जीवन का वर्णन आता है, वहां आप देखते हैं कि वह अपने ऐश्वर्य में इतना अधिक आसक्त बना कि तनिक भी त्याग को अपना नहीं सका और अपने अन्तिम समय तक तृष्णाग्रस्त रह कर नरकगामी बना। इस प्रकार जो ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती जितने वैभव में आसक्त बनता है वह तो नरक का आयुष्य बांधता ही है, लेकिन यह आसक्ति की निकाचित भावना अल्प वैभव वाले या वैभवहीन को भी छोड़ती नहीं है।

वैभवहीन भी परिग्रही!

जिस पुरुष के पास एक वक्त के भोजन की साधन सामग्री का भी संग्रह नहीं है, किन्तु यदि उसकी आन्तरिक मूर्च्छा और आसक्ति अत्यधिक पदार्थों को हड़प करने की बनी हुई है और वह अपने मन में तृष्णा के निकृष्टतम स्तर पर चल रहा है तो वह वैभवहीन होकर भी परिग्रही और बहुल परिग्रही बनता है तथा अपने आपको नरकगामी बना सकता है।

इसका तात्पर्य यह है कि बाहर की स्थिति वास्तविकता का मापदंड

नहीं होकर आन्तरिक भावों की स्थिति मुख्य होती है। मन के परिणामों का ही प्रधानतः सारी आन्तरिक एवं वाह्य प्रवृत्तियों पर प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति की लिप्सा जैसी होती है, वैसा ही वह वोलता है और प्रयास करता है और उसी के अनुसार उसका स्वभाव ढलता है तथा कर्मों का वंध होता है। इस दृष्टि से लिप्सा और प्राप्ति का यह सम्बन्ध नहीं होता कि लिप्सा के वाद यदि तदनुकूल प्राप्ति नहीं हुई तो कर्म न वंधे। यह कर्म वंध तो मूलतः लिप्सा के चिकने परिणामों के साथ ही हो जाता है। आज के कानून में भी तो ऐसा ही होता है कि कोई किसी की हत्या करने की निकृष्ट भावना बना कर हत्या का यत्न करे तो उसे दंड मिलता है, चाहे वह हत्या का प्रयास सफल न हो। इस दंड विधान में भी मन के इरादे को ही मुख्य रूप से देखा जाता है। अतः परिग्रह पास नहीं होने पर भी जो परिग्रह की लिप्सा में मूर्छित वना घूमता है, वह परिग्रही होकर तदनुकूल कर्म-वध का भागी वनता है।

अपरिग्रहवाद का मर्म

इसी चित्र का दूसरा पहलू आप चेड़ा महाराज के प्रसंग से समझिये। माध्यमिक कालीन गणतंत्र के नायक चेड़ा महाराज के जीवन से अपरिग्रहवाद का मर्म प्रकट होता है। वे लिच्छवी गणतंत्र के एक ओर प्रमुख थे तो दूसरी ओर बारह व्रतधारी श्रावक। एक ओर सत्ता और सम्पत्ति का वैभव तो दूसरी ओर श्रावकत्व की निस्पृह भावना एवं त्याग-वृत्ति। परिग्रह की प्रचुरता पास में होने पर भी उसमें आसक्ति या मूर्च्छा न रखना—यही अपरिग्रहवाद का मर्म है। मन का निग्रह ही इस कारण सर्वोपरि तथ्य होता है। अपने एक दोहिते सम्राट कुणिक के अन्याय से दूसरे दोहिते हलकुमार के हितों की रक्षा के लिये चेड़ा महाराज के नेतृत्व में भयंकर युद्ध हुआ, परन्तु इस रक्तपात के वावजूद श्रेष्ठ निष्ठा के कारण उनके श्रावकत्व को कहीं भी आंच तक नहीं लगी। राज्य और युद्ध के संचालन के वावजूद चेड़ा महाराज वहुत आरंभी और वहुत परिग्रही नहीं वने, बल्कि श्रावक धर्म की विशुद्ध आराधना के फलस्वरूप वे स्वर्गगामी हुए।

इस कारण भावनाओं के संसार को समझने की कोशिश कीजिये और इसे सत्य मानिये कि आत्म-विकास का वीजारोपण पहले भावनाओं के संशोधन से ही होगा। कोई यह सोचे कि जो जैनधर्म का श्रावक वन जाये तो वह राजा नहीं वन सकता अथवा सत्ता और सम्पत्ति के महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों का वहन नहीं कर सकता तो यह धारणा सही नहीं है। यह धारणा भी इसी तरह सही नहीं है कि वह राष्ट्र-रक्षा में शौर्य या पराक्रम नहीं दिखा सकता

है। मुख्य प्रश्न मन के भावों का होता है – मन की आसक्ति और मूर्छा का होता है। वीतराग के अनुयायी आनन्द आदि श्रावक विशाल सम्पत्ति के स्वामी होते हुए भी देश–परिग्रही याने सीमित अपरिग्रही ही कहलाये। मन की वैसी अनासक्त भावनाओं के साथ यदि अपरिग्रह का वैसा स्वरूप समाज में आज अपना लिया जाय तो संसार में समतामय समाज-रचना का स्वरूप समक्ष आ सकता है।

आसक्ति छूटे तो अपरिग्रहवाद आवे

भगवान् महावीर के उन आदर्श श्रावकों के जीवनवृत्त आपके सामने हैं, जो अपनी अनासक्त भावनाओं के स्वामी थे—परिग्रहधारी होकर भी उसकी आसक्ति से मुक्त थे। आप भी भगवान् महावीर के श्रावक कहलाते हैं और सोचिये कि इस संबन्ध में आपका जीवन कैसा चल रहा है? क्या आप लोगों में से भी अधिकांश दुनिया के अन्य लोगों की तरह परिग्रह को उचित—अनुचित सभी उपायों से बटोरने में रात–दिन एक नहीं कर रहे हैं? उनको इस बात का खयाल कम आ रहा है कि वे चंद–चांदी के टुकड़ों की आसक्ति में इस अमूल्य मानव–जीवन को बरबाद कर रहे हैं और निकाचित कर्मों का उपार्जन भी कर रहे हैं। यह मनुष्य तन क्या नारकीय कर्म का उपार्जन करने के लिये है? मनुष्य तन और जीवन का सच्चा उपयोग तो यह है कि नारकीय कर्मों को तोड़ कर अन्य सारे कर्मों के आवरणों को हटाते हुए मोक्ष की साधना की ओर आगे बढ़ा जाय।

श्रावक का सच्चा कर्त्तव्य तो यही है कि वह अपने मन और मस्तिष्क में इस उद्देश्य को लेकर चले तथा सबसे पहले परिग्रह के प्रति आसक्ति को हटाते हुए वास्तविक रूप में अपरिग्रही बनने का प्रयास करे। चाहे पहले एक व्रत को धारण करके ही श्रावक बना जाय किन्तु उस एक व्रत का पालन भी निष्ठा और साहस के साथ किया जाय जिससे अनासक्त भाव की पुष्टि हो। एक व्रत से बारह व्रत तक श्रावक ग्रहण करे किन्तु यह अवश्य करे कि वह धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद चौपद आदि सम्पूर्ण परिग्रह के पदार्थों में तटस्थ वृत्ति को अपनावे। यदि वह तटस्थ वृत्ति नहीं बना सका और मन में लालसा बनी रही तो चाहे उन पदार्थों का संयोग न भी जुड़े तब भी उसके लिये नरक बंध की स्थिति तैयार हो सकती है।

इसके विपरीत जिसके पास बहुतेरा वैभव भी है, परन्तु उसकी स्थिति से वह निर्लिप्त रह कर यदि यथास्थान यथासंभव उसके सम–वितरण में आस्था रखता है तथा यथासमय उसका विभाग करके चलता है तो वह नारकीय स्थिति

से बच सकता है और यदि उसकी निर्लिप्त भावना उत्कृष्ट अवस्था की ओर बढ़ती है तो वह साधना की उच्चस्थ श्रेणियों में भी पहुंच सकता है ।

द्रव्य और भाव परिग्रह

बाहर की दीखने वाली चीजें—ये द्रव्य परिग्रह हैं और भाव परिग्रह वह है जो इन चीजों में मूर्च्छा रही हुई है । विशेष रूप से इस मूर्च्छा के जितने घनत्त्व के साथ जो चलता हैं, वह व्यक्ति अत्यधिक घनत्त्व के साथ नरक के बंधन की स्थिति की तैयारी करता है । अन्दर की मूर्च्छा-भावना इन्सान को कहां से कहां पटक देती है ! इस मूर्च्छा के तीव्र परिणाम जब इस परिग्रह को येन-केन प्रकारेण प्राप्त करने में कार्यरत बनते हैं, तब कर्म बंधन के निकाचित कार्यों को कर लेने की धृष्टता करते हुए भी वह व्यक्ति हिचकिचाता नहीं है ।

आजकल तो कहते हैं कि सभ्य तरीकों से भी ठगाई, लुटाई और जेब-कतराई चलती है, परन्तु सबकी भावना इस द्रव्य परिग्रह के प्रति अत्यन्त आसक्त बनी हुई है और इसी भावना ने दूसरे सम्बन्धों को तो छोड़िये—भाई-भाई के सम्बन्ध को भी सर्वथा विच्छेदित करवा दिया है । इसी आसक्ति की भावना ने परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में घोर अशान्ति पैदा कर रखी है । इसी आसक्ति की भावना ने सब ओर एक हिंसक वातावरण की रचना कर दी है । अतः ऐसी निकृष्ट भावनाओं का परिमार्जन अपरिग्रहवाद की दृष्टि से जब तक नहीं किया जायगा, तब तक न तो इस लोक में शान्ति मिलने वाली है और न परलोक का ही सुधार होने वाला है । ऐसी मानसिक अवस्था में परमात्मा से समीपता की स्थिति भी प्राप्त होने वाली नहीं है ।

जीवन में सादगी और समता लाइये !

यह परिग्रह और उसके प्रति मूर्छा की भावना दिन दूनी और रात चौगुनी जो सर्वत्र व्याप्त होती जा रही है, उसे रोक कर आज जीवन में सादगी और समता लाने की आवश्यकता है । श्रावकत्त्व में परिग्रह के प्रति मर्यादा बनाने का जो प्रावधान है, उसे आज विस्मृत किया जा रहा है । परिग्रह की सीमा स्वेच्छा से जैसे आज कोई बांधना नहीं चाहता है । कोई कानून बन जाय और सारी कोशिश के बाद कहीं सुराग नहीं हो, तब जबरदस्ती व लाचारी से लोग भले ही पीछे हटें, वरना भावना में अपरिग्रह-वृत्ति लाने का साधारणतया अभ्यास नहीं करते हैं । यह जीवन के उत्थान का दृष्टिकोण नहीं है । सरकारी कानून से बलात् परिग्रह प्राप्ति को मर्यादित करना भी पड़ता हो तो उससे न तो आसक्ति घटती है और न ही किसी प्रकार का त्याग होता है ।

आसक्तिमय वृत्तियों की ऐसी तीव्रतम परिणाम स्थिति में यदि आयुष्य का बंध होता है तो आप ही समझ लीजिये कि वह कहां का होगा ?

कर्म-बंध के शास्त्रीय सूक्ष्म विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए आज भाइयों और बहिनों को सादगी के जीवन को अपनाना चाहिये जिससे आसक्ति एवं तृष्णा की भावनाओं से एक ओर छुटकारा मिलेगा तो दूसरी ओर विचारों एवं व्यवहार में समता वृत्ति को अधिकाधिक प्रवेश प्राप्त होगा । मैं तो इस स्थान पर आपको यही संकेत देना चाहूंगा कि संसार और निजात्मा की विषमताओं को देखते हुए परिग्रह को और उसकी मूर्च्छा को घटाइये, द्रव्य परिग्रह को भी सीमाओं में बांधिये और जीवन में समता व सादगी लाइये । ऐसा करने से मूर्च्छा और आसक्ति की भावना हल्की होगी तथा परमात्मा के समीप जाने की भावना प्रबल बनेगी ।

सम्पत्ति का सदुपयोग करें

अनासक्त भावना की प्रबलता से जब सम्पत्ति के प्रति मोह घटेगा तो उसके सदुपयोग करने की वृत्ति भी बढ़ेगी । बहती गंगा में इस सम्पत्ति से हाथों का मैल जितना धो सकें—धोना चाहिये । इसकी लपेट में आत्मा की स्थिति को उलझाने की बजाय सम्पत्ति का दानादि कार्यों में सदुपयोग करके इसके जाल से ऊपर उठने का निरन्तर यत्न करना चाहिये । अन्यत्र भी और विशेष रूप से धर्म स्थान में तो जीवन की पूर्ण सादगी झलकनी ही चाहिये ।

त्याग तभी बनता है जब आन्तरिक मूर्च्छा कम होती है और यदि मूर्च्छा रखते हुए त्याग किया भी तो वह यश की लालसा वाला त्याग हो सकता है, भावनापूर्ण नहीं । अतः ममता छोड़ कर त्याग करें और जीवन में समता लावें तभी अपरिग्रहवाद का व्यवहारिक रूप से प्रसार किया जा सकेगा ।

वास्तविक आनन्द की स्थिति

ममता का फल दुःख ही दुःख है तो समता वास्तविक आनन्द की दाहक होती है । जो समता के महत्त्व को समझता है, वह हर समय समभाव से ही चलता है और समभाव के साथ वास्तविक आनन्द की स्थिति रही हुई है । महा-आरम्भ और महा-परिग्रह महा-मूर्च्छा के साथ बंध होने के कारण नरक की भीषणतम यातनाओं के हेतु बनते हैं और आत्मा को पतन के महागर्त में गिराते हैं । अतः इस मूर्च्छा से ऊपर उठिये और समता से वास्तविक आनन्द प्राप्त कीजिये ।

मानव-जीवन की सच्ची कला





उन्नीसवां प्रवचन

दिनांक १५ अक्टूबर, १९७२

प्रवचनस्थल—लाल भवन

जयपुर (राजस्थान)

"पदम प्रभु जिन तुज मुज आंतरू रे..................."

इस प्रार्थना के माध्यम से प्रभु के चरणों में यही निवेदन है कि हे भगवन्, परमात्मा के रूप में आप सुखी हैं, किन्तु संसारी आत्माएं दुःखी हैं। आप अनन्त ज्ञान के स्वामी तथा समता के सागर हैं, परन्तु संसार के प्राणी अल्प ज्ञान एवं अज्ञान के थपेड़े खाते हुए विषमता के संकटों में घिरे हुए हैं। आप परमानन्द में लीन हैं, लेकिन भव-भ्रमण में भटक रहे जीवों को आधि, व्याधि, उपाधि का पर्याप्त दुःख दुःखित बना रहा है। परमात्मा और आत्मा में जो यह अन्तर है—समस्या यही है कि उसे दूर कैसे किया जाय ? इसी का समाधान प्रार्थना के भावार्थ में खोजना है।

परमात्मा और आत्मा की अवस्था जब तक गुण-दृष्टि से समान नहीं बनेगी, तब तक अन्तर दोनों के बीच तदनुसार अन्तर के रूप में बना हुआ रहेगा ही। समान अवस्था की प्राप्ति के लिये विवेकपूर्ण ज्ञान की नितांत आवश्यकता है। इस विवेकपूर्ण ज्ञान की दृष्टि समता के धरातल पर ही खुल सकती है।

मूल रूप में आत्मा स्वयं समता का पुंज होती है। आत्मा का स्वरूप भी समतामय ही होता है। परन्तु आत्मा के इस समतामय स्वरूप को ममतामय रूप ने जो विकृत बना दिया है—इसी कारण संसारी आत्माओं के वर्तमान स्वरूप में विषमता व्यापी हुई दिखाई देती है। इस ममतामय विकृति ने अहंकार एवं ममकार का रूप धारण कर लिया है और इन दुर्गुणों के साथ आत्मा विचित्र रूप से मायाजाल में उलझती रहती है कि जिससे सुलझना दुष्कर बनता जाता है। विषमता की इस अवस्था में आत्मा जितना समता के सम्बन्ध में चिन्तन करेगी, उतना ही उसके सुलझने का मार्ग निष्कंटक बनता जायगा। यदि आत्मा स्वयं अपने समतामय स्वरूप को समझ कर उसकी अनुभूति के शुद्ध प्रयत्न में लग जाती है तो कहा जा सकता है कि वह मनोवांछित फल भी प्राप्त कर सकती है। वह इच्छानुसार गति (योनि) भी पा सकती है तो अपनी भावना के अनुसार सारे संसार की सुदशा भी देख सकती है।

समतामय जीवन की साधना

इस निष्ठा को सुदृढ़ बनाइये कि यह मानव-जीवन मुख्यतः समता की साधना के लिये है। इस अमूल्य जीवन में मानव को सही तरीके से सोचने की जरूरत है। जबकि हमारे पास पूर्ण शांति एवं अपूर्व सुख को प्राप्त करने की योग्यता है तथा समग्र शक्तियों की केन्द्र रूप आत्मा है, तब इस जीवन को उस योग्यता के विकास एवं प्रकाशन में न लगा कर पर-पदार्थों के व्यामोह में लगाया जाय—इसे कैसी बुद्धिमत्ता कहेंगे ?

बुद्धिमान् पुरुष यदि विवेक के दीपक के साथ समतामय जीवन की साधना पर चिन्तन करता है तथा इस अमूल्य जीवन को इस दिशा में मोड़ लेता है तो उसके लिये निकृष्ट योनियों की तरफ जाने का प्रसंग नहीं आता है। वर्तमान में जो कुछ भी इस आत्मा की पर-पदार्थों के साथ ममत्व भावना बनी हुई है तो इस ममत्व भावना में भी पूर्वार्जित कर्मों का उदय ही विशेष रूप से रहा हुआ है। पूर्वार्जित कर्मों का उदय जब आता है तो उनके प्रभाव से यह आत्मा अपने स्वभाव को भूल कर संसार के भौतिक पदार्थों के साथ अपनत्व एवं ममत्व की भावना को जोड़ लेती है। यहीं से विषमता के विषैले भावों का बीजारोपण शुरू होता है।

संसार के भौतिक पदार्थ जब किसी को प्राप्त हो जाते हैं तो यह ममत्व-भाव अहंकार के रूप में फूटता है। अहंकार लोभ एवं क्रोध को पनपाता है, तो माया की सहायता से भीषण रूप लेता रहता है। ममता का मारा हुआ मानव सोचने लगता है कि उसके सरीखा और कौन हो सकता है ? इन पदार्थों की बहुलता में वह तो वह ही है, बल्कि वह औरों को अपने सामने कुछ भी नहीं समझता। यह ममकार की भावना और अहंकार की वृत्ति मानव को मायावी झोंकों में बेभान बना देती है।

ममता से उपजी चिन्ता

ममता के चक्कर में जब एक वक्त आत्मा उलझ जाती है तो उसके सिर पर चिन्ताओं का एक बहुत बड़ा जाल आ जाता है। तब ऐसी उलझी हुई चिन्ताओं को दूर करने में वह बराबर विफल होती जाती है। सोचिये, इन सारी चिन्ताओं के पीछे किसकी शक्ति लग रही है और यह चिन्ता करने वाला कौन-सा तत्व है ? चिन्ता—यह भी शक्ति का एक प्रवाह है और चिंतत होना भी आत्मा की एक पर्याय है। आत्मा की शक्ति जब नाशवान् पदार्थों की ओर मुड़ती है और उनकी लालसा का रंग जब आत्मा पर बुरी तरह से चढ़ जाता है, तब वही रंग उतार-चढ़ाव के समय विविध चिन्ताओं के

रूप में संसार के सामने अभिव्यक्त होता है ।

इसी आत्म-शक्ति से जब इन्हीं सारे पर-पदार्थों की ममता हट जाती है तो यही चिन्ता तब समुन्नत चिन्तन का रूप ग्रहण करके चित्त में एक सच्ची शान्ति की लहर उत्पन्न करती है तथा आत्म-शक्ति को स्वयं के स्वरूप की अभिव्यक्ति में नियोजित कर देती है । विचारों की यह एक ऐसी धारा है जिसे मानव चाहे जिधर मोड़ सकता है ।

ममता से उपजी चिन्ता जहां आत्मा को मोहित बना कर उसकी शक्ति को पतन की ओर धकेलती है, वहां यदि मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर समता की ओर गति की जाय तो चित्त को दुःखी करने वाली वह चिन्ता चित्त में आनन्द बरसाने वाले उत्थानगामी चिन्तन का रूप ले लेगी । आवश्यकता है कि मनुष्य अपनी ममता को हटावे और अपने विचारों की श्रेणी में परिवर्तन लाकर अपनी आत्म-शक्ति समता की प्राप्ति की ओर लगावे ।

सूर्य के प्रकाश की तरह उन्मुक्त समता

ममता जहां मनुष्य के मन को संकुचित बना कर छोटे से छोटा और क्षुद्र से क्षुद्र बना देती है, वहां समता उसी मन का इतना विस्तार करती है कि साधना के अनुरूप वह मन विशालतम तक हो जाता है । समता सूर्य के प्रकाश की तरह उन्मुक्त होती है और इसी कारण ग्रहण शक्ति के अनुसार व्यापक बन जाती है ।

सूर्य का प्रकाश भू-मण्डल पर मुक्त रूप में प्रसरित होता है, परन्तु इस प्रकाश का उपयोग अपने-अपने स्वभाव की दृष्टि से विभिन्न रूपों में होता है । किसानों के खेतों में ही समझिये कि विभिन्न प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं और सभी फसलें सूर्य की ऊष्मा को ग्रहण करती हैं । सूर्य की किरणें एक सी हैं किन्तु जिस स्वभाव का पौधा उन्हें ग्रहण करता है, उनकी वैसी ही परिणति कर देता है । कल्पना करें कि उन खेतों में अफीम का पौधा भी है और गन्ने का पौधा भी खड़ा हुआ है । अब दोनों पौधे सूर्य के प्रकाश का उपयोग कर रहे है । अफीम का पौधा कटु रस पैदा कर रहा है तो गन्ना मीठा रस । इसी प्रकार अनेकानेक प्राणी भी सूर्य के प्रकाश को अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप ग्रहण करते हैं । इस स्थिति को देख कर सूर्य के प्रकाश का क्या स्वभाव माना जाय ? क्या सूर्य-प्रकाश का स्वभाव कटु रूप है अथवा मिष्ट या अन्यान्य रूपी ?

ग्रहण के परिणाम की दृष्टि से भले ही यह विविधता दिखाई देती

हो, किन्तु अपने मूल स्वभाव की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश स्वच्छ और निर्मल होता है। इसी प्रकार समता का स्वरूप भी निर्मल और उन्मुक्त होता है। आत्मा का मूल स्वभाव भी स्वच्छ और निर्मल ही होता है, किन्तु उसकी वृत्तियां एवं शक्तियां सूर्य की किरणों की तरह जब विभिन्न पर-पदार्थों के साथ मोह रूप में जुड़ती हैं तो वे चित्र-विचित्र रूप में दिखाई देती हैं। उस स्वच्छता में उन-उन पदार्थों का रंग आ जाता है। इसी कारण कभी आत्मा में चिन्ता की अभिव्यक्ति होती है जिसमें कभी मनुष्य रोने लगता है, कभी हंसने लगता है तो इस प्रकार संसार के भौतिक पदार्थों में आनन्द और खेद का अनुभव करता है।

आन्तरिक परिणामों से गति-मुक्ति

आत्मा की वृत्तियों और शक्तियों के इन रूपों पर यदि गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि आन्तरिक परिणाम जिस दिशा में बहेंगे, उन्हीं के अनुसार आत्मा की भावी गति का निर्णय हो सकेगा। गति की अपेक्षा से दुर्गति, सद्गति और यहां तक की मुक्ति की प्राप्ति का रहस्य भी आन्तरिक परिणामों के पतन एवं उत्थान में ही समाया हुआ है। यह आत्मा नरक के योग्य भी कर्म इसी धरातल पर उपार्जन कर सकती है तो इसी धरातल पर उत्कृष्ट सरणियों में ऊपर चढ़ती हुई मुक्ति के द्वार भी खटखटा सकती है।

नरक गति के कारणों का वर्णन मैं आपके सामने कुछ शब्दों में रख गया हूं, जिससे मनुष्य को ज्ञात रहे कि जैसी उसकी आन्तरिक विचारणा चल रही है, उसी के अनुसार वह नरक या स्वर्ग की गति का बंध कर रहा है। अब पशु-योनि के बंध के कारणों की यदि जानकारी करनी है तो शास्त्रकारों का संकेत है कि नरक के योग्य निकाचित कर्म-बंध जब कुछ हलके रूप में होते हैं तो पशु-गति का आयुष्य बंधता है। तदनुकूल ममता की जटिल वृत्तियां मनुष्य को पशु-योनि में भेज देती हैं।

यह वीतराग देव का सिद्धान्त है कि मनुष्य मर करके नरक में भी जा सकता है, पशु भी बन सकता है, देवगति को भी प्राप्त कर सकता है और पुनः मनुष्य जीवन भी पा सकता है। मनुष्य पुरुष-लिंग का त्याग करके आगामी जीवन में नारी का रूप भी ग्रहण कर सकता है। इसी तरह इस जन्म की स्त्री आगामी जन्म में पुरुष का जीवन प्राप्त कर सकती है। दुनिया में कई तरह के सिद्धान्तों का प्रचलन है, जिनमें से किसी का शायद यह भी कथन है कि मनुष्य मर कर केवल मनुष्य ही बनता है तथा इसमें भी पुरुष

फिर से पुरुष और स्त्री फिर से स्त्री ही का जन्म धारण करती है । पशु मर करके फिर से पशु ही बनता है ।

किन्तु कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है । इस जीवन से आगामी जीवन की गति का निर्धारण यहां किये हुए कर्मों के आधार पर होता है। अब यदि यह मानें कि पुरुष मर कर पुरुष ही बनता है तो क्या सभी पुरुषों में कर्मों की एक समानता ही रहती है जो उनकी गति एक-सी ही हो ? ऐसा कहीं नहीं दिखाई देता है । आन्तरिक परिणामों की दृष्टि से पुरुषों-पुरुषों में ही अथवा स्त्रियों-स्त्रियों में ही भारी विभेद दिखाई देता है—फिर सभी की समान गति के आयुष्य का एक-सा बंध कैसे हो सकता है ? अतः ऐसे भ्रामक कथनों को छोड़ कर वीतराग के सर्वकाल सत्य सिद्धांतों को समझने के लिये गहन चिन्तन का आश्रय लें तो वास्तविक स्थिति प्रकाशित हो सकेगी । इसी वास्तविक स्थिति के प्रकाश में यह स्पष्ट हो सकेगा कि किस प्रकार आन्तरिक परिणामों को उनकी उत्कृष्ट दिशा में ले जाया जाय तथा गति की स्थिति सुधारी जाय ।

जैसा कर्म, वैसी गति

वीतराग देव ने तो यहां तक कहा है कि मनुष्य जीवन के रूप में पशु के स्वभाव से रहने वाला मानव भी यदि पशु-गति के योग्य कर्मों का उपार्जन कर लेता है तो वह मनुष्य का शरीर छोड़ने के बाद पशु-शरीर धारण कर लेता है । पशु-योनि को तिर्यंच गति कहा है और इस गति में जाने के कारणों के विषय में शास्त्र का कथन है कि माया, कपट, प्रपंच, कुटिलाई ये सब तिर्यंच गति का बंध कराने वाले हैं ।

श्रीमद्ठाणांग सूत्र में तिर्यंच गति के चार कारण बताये गये हैं । जब इन चार स्थानों से आत्मा कर्मों का उपार्जन करती है तो वह पशु-योनि के आयुष्य का बंध करती है । इनमें पहला कारण बताया है—"माया" । पुरुष होकर यदि मायावी आचरण बनाता है, छल करता है और किये हुए कुकर्मों को दबाने की कुचेष्टा करता है तथा उस समय में यदि उसके आगामी जीवन के आयुष्य का बंध होता है तो वह पशु-योनि का बंध कर सकता है। माया साधारण रूप में भी की जा सकती है तथा उसका प्रगाढ़ रूप भी हो सकता है । गाढ़ माया उसे कहते हैं, जहां मनुष्य के व्यवहार से उसके मन का तनिक भी पता नहीं लग सके । वह कहता क्या है—जताता क्या है और करना क्या चाहेगा—इसका अनुमान तक नहीं लगता । ऐसा आचरण गाढ़ माया का होता है ।

प्रगाढ़ रूप से मायावी पुरुष के अन्तःकरण को कोई पहिचान नहीं सकता है। ऐसे लोगों का ऊपर का व्यवहार बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है लेकिन भीतर में गाढ़ माया होने से ऐसे स्वभाव के लोग तिर्यंच गति का आयुष्य बांध लेते हैं। इस प्रकार माया का कर्म तिर्यंच गति की ओर ले जाता है।

तिर्यंच-गति के कारण

तिर्यंच-गति के बंध के जिन कारणों पर यहां प्रकाश डाला गया है, उन्हें एक रूपक से स्पष्ट रूप से समझिये। किसी पुरुष को एक भयंकर रोग ने घेर लिया किन्तु कई उपचार करने पर भी उसकी वह व्याधि बढ़ती ही गई। तब वह अति दुःखित होकर चिन्ताग्रस्त बना एक प्रसिद्ध डॉक्टर के पास पहुँचा। उसने सोचा कि अब रोग से उसकी निवृत्ति अवश्य हो जायेगी। आजकल की परम्परा आप जानते हैं और उसी के अनुसार वह पहले डॉक्टर के बंगले पर पहुँचा ताकि पहले उनको फीस दे दी जायेगी तो फिर राजकीय अस्पताल में वे उसकी चिकित्सा का खास ध्यान रखेंगे। डॉक्टरों ने जो ऐसी मायावी परम्परा बना रखी है, वह भी उनके लिये कर्म-बंध का एक कारण है।

वह रोगी जब डॉक्टर के निवास-स्थान पर पहुंचा तो डॉक्टर के सामने गिड़गिड़ाने लगा कि वह अपने भयानक रोग से निराश होकर उनके पास पहुंचा है, अतः वे अपनी यशस्वी प्रतिष्ठा के अनुसार उसकी चिकित्सा करें तथा इसमें जो भी खर्च आयेगा, वह उसको वहन करने के लिये सहर्ष तैयार है। तब उसने दस हजार रुपये डॉक्टर को देने का वादा किया। डॉक्टर ने भी अपने उपकरणों से रोगी का परीक्षण किया और रोग का निदान कर दिया। रोगी बाहर गांव का था तथा उसके पास उस समय पचास हजार रुपये थे तो उसने सोचा कि चिकित्सा के समय यह जोखिम अपने पास रखना उचित नहीं है, अतः उसने यह राशि डॉक्टर को सम्हला दी। उस समय डॉक्टर के मन में तो कुछ और बात आई, किन्तु ऊपर से उसने ऐसा व्यवहार जताया कि रोगी को उसकी ईमानदारी का पक्का विश्वास हो गया।

अब देखिये कि डॉक्टर के मन की गाढ़ माया किस प्रकार कार्य करती है? पहले तो रोगी को उन्होंने कुछ ऐसी औषधियां दीं, जिससे रोगी को विश्वास होने लगा कि वह स्वस्थ हो रहा है। उस चिकित्सा के प्रति उसके मन में निष्ठा बन गई। डॉक्टर के मन में यह था कि रोगी को स्वस्थ बना देने पर तो दस हजार रुपये ही मिलेंगे, लेकिन किसी तरीके से यदि इसकी जीवन लीला समाप्त कर दी जाय तो पूरे पचास हजार अपने हो जायेंगे। चंद

चांदी के टुकड़ों के लिये मनुष्य की नीयत किस हद तक बिगड़ती है और वह कैसी प्रगाढ़ माया के जाल में उलझ कर तिर्यंच गति का बंध करता है—यह इस उदाहरण से स्पष्ट होता है ।

यह सोच कर डॉक्टर ने विभिन्न रसायनों का एक ऐसा मादक इन्जेक्शन तैयार किया और रोगी को कहा कि यह इन्जेक्शन जो तुम्हारे लगाया जा रहा है, तुम्हें सदा के लिये रोग मुक्त बना देगा। रोगी अति प्रसन्न हुआ—कारण स्पष्ट था कि यह पूर्ण स्वस्थ हो जायेगा । डॉक्टर भी अति प्रसन्न था क्योंकि वह कुछ और ही सोच रहा था । डॉक्टर ने वह इन्जेक्शन रोगी के लगा दिया और उसके अन्त की प्रतीक्षा करने लगा। लेकिन प्रकृति ऐसी बदली कि रोगी उससे पूर्ण स्वस्थ हो गया । वह डॉक्टर का भारी गुणगान करने लगा। किन्तु आप इसके भावनात्मक पहलू की ओर ध्यान दें । रोगी तो डॉक्टर के प्रति कृतज्ञता की भावना शुरु से आखिर तक लेकर चल रहा है, किन्तु डॉक्टर की मानसिक प्रक्रिया किस प्रकार चली ?

गाढ़ माया का दुष्परिणाम

डॉक्टर ने बाहर से तो इस तरह बताया, जैसे वह अपने कार्य को कर्त्तव्य बुद्धि के साथ कर रहा हो, जबकि बीच में उसके मन में माया समा गई और वह माया भी साधारण नहीं, गाढ़ माया थी । यदि उस समय उस के आयुष्य का बंध होता तो वह तिर्यंच गति का ही आयुष्य होता ।

शास्त्रकारों ने इस गाढ़ माया के कई रूप बताए हैं तथा इसके दुष्परिणामों का भी विवेचन किया है । आज इस गाढ़ माया के विभिन्न रूपों के दर्शन तो आप यत्र-तत्र-सर्वत्र कर सकते हैं, क्योंकि इस युग में मायावी आचरण का अत्यधिक व्यापक प्रसार हो गया है । परिवार तक में देखिये कि एक सदस्य दूसरे सदस्य को किस प्रकार की माया एवं कुटिलाई से ठगने की चेष्टा करता है । समाज के रंगमच पर भी यह दृश्य आपकी दृष्टि में आ सकता है, जबकि राजनैतिक रंगमंच पर तो आपको माया का तांडव नृत्य होता हुआ दिखाई देगा । इस कुटिल मायावी आचरण को राजनीतिक क्षेत्र में कूटनीति या पॉलिटीकल चाल कहा जाता है । मानव के मन में मायाचार ऐसा व्याप्त हो रहा है कि ऊपर कुछ और है, अन्दर कुछ और है तथा वर्ताव में कुछ और ही । यह मानव इस माया के पीछे अपने आपके स्वरूप को तथा अपनी गति-प्रगति को भूल कर पशु-योनि की तैयारी कर लेता है ।

यदि किसी को पशु-गति से बचना है तथा पशु नहीं बनना है तो गाढ़ माया के शास्त्रोक्त लक्षणों तथा इसके दुष्परिणामों को सदा ध्यान में

रखने की आवश्यकता है ताकि उसके कारणों की ओर कार्यों का रुख न मुड़े। माया साधारण रूप से भी छोड़ी जानी चाहिये तथा गाढ़ माया की ओर तो आत्मा के परिणाम मुड़ने ही नहीं चाहिये ।

माया और झूठ की जोड़ी

तिर्यंच गति के आयुष्य-बंध के माया और गाढ़ माया के कारणों के बाद झूठ को अगला कारण बताया गया है । जहां मायावी व्यवहार होता है, वहां झूठ तो उसके साथ जुड़ता ही है । यही कारण है कि आज आप जिधर भी देखें—असत्य तो दाल-रोटी की तरह बना हुआ है कि जिसके बोले बगैर तो जैसे एक कदम भी चलना मुश्किल हो जायगा । बात-बात में असत्य प्रकट होता है और उसमें झूठ बोलने वाले को किसी प्रकार की लज्जा अथवा ग्लानि का भी अनुभव नहीं होता । मजाक में, वार्ता में, खाने-पीने में और साधारण से साधारण व्यवहार में भी स्थान-स्थान पर असत्य भाषण खुल कर चलता रहता है । जितना यह झूठ बढ़ा है, मनुष्य के मन की स्थिरता एवं दृढ़ता जाती रही है । माया और झूठ की ऐसी जोड़ी है, जिसे एक ही सिक्के के दो पहलुओं के रूप में देखा जा सकता है ।

असत्य ही पर आधारित अगला लक्षण है—कूड़ा तोलना और कूड़ा मापना । तोल और माप में झूठ—यह भी असत्य आचरण का ही एक पहलू है । इसी के अन्य पहलू हैं— वस्तु में भेल-संभेल (मिलावट) करना, असली चीज का मूल्य करना और उसकी जगह नकली वस्तु दे देना आदि। इन सभी कार्यों में पूरे तौर पर माया एवं असत्य का मिश्रण होता है तथा ऐसे कार्यों से होने वाला आयुष्य बंध तिर्यंच गति का होता है ।

ये सब छल, कपट और झूठ के जो कार्य हैं निश्चय ही मनुष्यता से परे तथा पशुता के भावों से ओतप्रोत होते हैं, अतः ऐसे जघन्य कार्यों को बेखटके करते हुए भी यदि मनुष्य कल्पना करता है कि वह इस मानव-जीवन को समाप्त करने के बाद पुनः मनुष्य-गति ही प्राप्त करेगा तो उसकी ऐसी कल्पना व्यर्थ है ।

अपनी गति स्वयं जानों

शास्त्रीय दृष्टिकोण ने दर्पण के समान सारी स्थिति को एक अध्येता के समक्ष इतनी स्पष्ट बना रखा है कि किसी को पूछने की जरूरत नहीं कि वह मर कर किस गति में जायेगा ? यदि वह अपनी मनोवृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर ले तथा उनके रूप को शास्त्रीय व्याख्याओं के संदर्भ में तोल

लें तो परिणाम सामने आ जायगा । इस तरह अपनी भावी गति स्वयं ही के द्वारा भलीभांति जानी जा सकती है ।

मन में जिस प्रकार की वृत्तियां चलती हैं, वैसा ही उसका व्यवहार ढलता है तथा विचार और आचरण मिल कर जीवन का एक प्रकार का स्वरूप उपस्थित करते हैं । यह स्वरूप ही कसौटी है कि वैसे स्वरूप के साथ वह आत्मा भविष्य में किस गति में जायेगी ? कारण, जिस प्रकार के कार्य जीवन में हो रहे हैं और उनके निमित्त से जिस प्रकार के कर्मों का बंध हो रहा है, उन कर्मों का वैसा फल तो मिलने ही वाला है । कर्म विपाक कभी टलता नहीं है ।

सर्वाधिक महत्त्व की बात यह है कि कर्म विपाक एवं उसकी प्रक्रिया को समझ कर विचारपूर्वक कर्मक्षय के सम्बन्ध में सोचने का काम भी इसी मनुष्य-गति में संभव है । अन्य गतियों में तो वैचारिक स्थिति भी नहीं बनती है, तब कर्मक्षय के कार्य में जुटने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता । उच्च पशु-योनि में कहीं कुछ सद्‌विचार या सत्कार्य की स्थिति बनती है, किन्तु विचार एवं आचरण के निर्माण का सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र यह मनुष्य-जीवन ही है— इसमें कोई सन्देह नहीं ।

अपनी गति को स्वयं जानने का अर्थ यह है कि अपने सत्प्रयास से कम से कम अभी वर्तमान में जो स्थिति है, उससे तो नीचे नहीं गिरा जाय याने कि मनुष्य-जीवन में ऐसे कर्म-बंध तो कम से कम नहीं किये जावें कि इस जीवन के बाद पुनः मनुष्य-जीवन प्राप्त न हो । यदि ऐसा निश्चय करें तो यह सतर्कता आवश्यक ही है कि नरक गति एवं पशु-गति के योग्य निकाचित एवं मायावी कार्यों से तो दूर ही रहा जाय । आत्मा यदि ऐसे दलदल में एक बार फंस जाती है तो वहां से निस्तार कब हो सके— इसका भी कुछ पता नहीं ।

मानव-जीवन की सच्ची कला

यह कर्म-सिद्धान्त जितना मनोवैज्ञानिक है, उतना ही आध्यात्मिक भी है । यह प्रेरित करता है कि आप मन को नियंत्रित करके जितना संयमित बना सकेंगे उतना ही आपका जीवन आत्माभिमुखी बन सकेगा । जितना आप संसार के इन दृश्य एवं भौतिक पदार्थों में आनन्द लेते हैं, उतना ही मन चंचल होकर परिणामों की तीव्रता एवं निम्नता में भटकता है और इसके कारण तीव्रतम कर्मों का बंध होता है । कर्म-बंध की जैसी तीव्रता होगी, वैसा ही कष्टदायक उसका फल भी होगा । फल के इस कष्ट को सहने में यदि फिर आर्त

और रौद्र ध्यान प्रवल बनते हैं तो उसके साथ ही नवीन कर्म–बंध का क्रम चलता रहता है। इस प्रकार यह शृंखला चलती रहती है, तब तक आत्मा जन्म–मरण के कठिन चक्र से उवरती नहीं है।

अतः इस शृंखला को तोड़ना एवं समता की साधना करना ही मानव–जीवन की सच्ची कला है। कर्म–सिद्धान्त का अध्ययन यह बताता है कि आप क्या करेंगे तो उसका फल या उसकी गति क्या होगी। इस शृंखला को तोड़ने का आधार इसी ज्ञान को बनाया जाना चाहिये। इस ज्ञान और कला के साथ आप इतने कुशल बन जायेंगे कि परलोक की आपकी कहां की यात्रा निश्चित हुई है—इसे सिर्फ आप जानेंगे ही नहीं, बल्कि उसका निश्चय करना भी आपके आधीन बन जायगा। तब आप परमात्म–स्वरूप के भी समीप जाने लगेंगे। कर्म–सिद्धान्त की सूक्ष्मता पर इस कारण गहन अध्ययन करें और इस मानव–जीवन में सच्चे कलाकार बनें।



भद्रता, मधुरता और सरलता





बीसवां प्रवचन

दिनांक १६ अक्टूबर, १९७२

प्रवचनस्थल—लाल भवन

जयपुर (राजस्थान)

"पदम प्रभु जिन तुझ मुझ आंतरू रे......................"

पद्म प्रभु की प्रार्थना को मंगलाचरण के रूप में उच्चरित करते हुए आत्मा एवं परमात्मा के बीच विद्यमान अन्तर के हेतुओं पर विचार किया जा रहा है। इसका मुख्य हेतु कर्म-विपाक है। कर्मों के फल के कारण ही संसार में विविध एवं विचित्र दृश्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं। परमात्मा और आत्मा में तो उसके कारण विभेद देख ही रहे हैं, किन्तु इसी के कारण मनुष्य और मनुष्य में भी भेद दिखाई देते हैं। सभी मनुष्यों की स्थितियां समान दृष्टिगत नहीं होती हैं। एक व्यक्ति कुशाग्र-बुद्धि वाला है तो दूसरे की मन्द बुद्धि दयनीय स्थिति में कार्य करती है। एक पुरुष को हर समय कुछ न कुछ रोग लगा रहता है तो दूसरा नीरोग बना रहता है। एक मनुष्य मन से सुखी है, तो दूसरा किसी न किसी चिन्ता और दुःख में घुलता रहता है। यह तो मनुष्यों के बीच भावनात्मक भेद की बात है, लेकिन शारीरिक दृष्टि से भी उनमें भेद दिखाई देते हैं। एक की आकृति दूसरे से हूबहू नहीं मिलती। शारीरिक संगठन भी अलग-अलग दीखते है तो जो यह सारा अन्तर दृष्टि में आ रहा है, उसके पीछे कर्मों का ही विपाक या फल है।

एक व्यक्ति जन्म से ही मानसिक या शारीरिक शक्तियों से सम्पन्न होता है तो एक को कई दुर्बलताएं जन्म से ही घेरे रहती हैं। तरुणाई में पहुंचने पर बचपन की वह आकृति भी बनी नहीं रहती है। वैसे ही विभिन्न इन्द्रियों की शक्ति का प्रसंग भी विचित्र रूप से सामने आता है। इन्द्रियों की आकृतियों एवं शक्तियों में भी फर्क दिखाई देता है। मानव-सृष्टि में ये जो विचित्रताएं अथवा विविधताएं दिखाई दे रही हैं, आवश्यक है कि इनके कारणों की खोज की जाय क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य बनता नहीं है तथा कार्य का जो रूप—अपरूप होता है, उसके पीछे भी उसके अपने कारण होते हैं।

अनुसंधान की सतत प्रक्रिया

सृष्टि के इस वैचित्र्य पर साधकों ने अपने प्रखर ज्ञान एवं अनुभव के क्षेत्र में अनुसंधान किया है एवं उसके परिणाम उन्होंने संसार के समक्ष

प्रकट किये हैं। आज भी साधक अपनी साधना के बल से इसके कारणों के बारे में खोज कर रहे हैं। बहुत से वैज्ञानिकों के अनुसंधान भी अपनी वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर इस क्षेत्र में चालू हैं। एक प्रकार से मानव समाज में सभी प्रकार के विभेदों के सम्बन्ध में अनुसंधान की एक सतत प्रक्रिया चल रही है।

एक सत्य इस सम्बन्ध में ध्यान में रखने योग्य है कि इन सारे विभेदों के मूल का अनुसंधान प्रयोगशालाओं में होने वाला नहीं है। वैज्ञानिक लोग भौतिक दृष्टि से भले ही अन्वेषण कर लें, किन्तु भौतिक पिंड भी अनन्त हैं और उन अनन्त पिंडों के रहस्य का उद्घाटन कर लेना भी शक्य नहीं है। इस विश्व में रहे हुए भौतिकतत्त्व भी अनन्त हैं, किन्तु प्रयोगशालाओं के साधन सीमित हैं और उन यंत्रों के साथ वैज्ञानिकों की शक्ति भी सीमित है। इन यंत्रों के द्वारा कल जो ज्ञात किया था, कई बार वह आज के प्रयोगों में गलत साबित हो जाता है। ऐसे परिवर्तनों के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वैज्ञानिकों की खोजें किसी एक निश्चित दिशा में बढ़ रही हैं और इसी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि विज्ञान मनुष्य को आत्म-विकास के एक निश्चित मार्ग पर अग्रसर नहीं बना सकता है।

वैज्ञानिकों द्वारा चन्द्रतल की खोजों ने आज मानव-मन को झकझोर दिया है। इन खोजों में भी चेतना-शक्ति की ही प्रमुखता है, फिर भी एक खोज पूर्ण नहीं होती, वह नये-नये रहस्यों की समस्याओं को सामने लाती रहती है। इस शृंखला में एकतत्त्व के प्रति सुनिश्चितता नहीं आती और मुख्य बात तो यह है कि इस विज्ञान का आधार केवल भौतिकता है और केवल भौतिकता संसार की चेतन शक्तियों के रहस्यों का अनुसंधान नहीं कर सकती है।

चैतन्य तत्त्व की प्रमुखता

आधुनिक विज्ञान का आधार यदि चैतन्य तत्त्व की प्रमुखता पर टिकाया जाय तो ज्ञान-क्षेत्र अभिवृद्ध हो सकता है, किन्तु वह विज्ञान फिर सिर्फ प्रयोगशालाओं का ही वस्तु विषय नहीं रहेगा। उसे साधकों के चिन्तन क्षेत्र में ले जाना होगा। यद्यपि इस भौतिक विज्ञान का संचालन तो चैतन्य-शक्ति द्वारा ही होता है और इसको प्राणवान स्फुरणा देने वाला तत्त्व चैतन्य ही है, फिर भी इस शक्ति का प्रयोग केवल भौतिक पिंडों पर ही किया जा रहा है। शरीर पिंड के सिवाय आत्म-तत्त्व की अनुभूति की ओर यदि ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि सभी मनुष्य वैज्ञानिक नहीं बन जाते। जिसकी

आत्मा में ज्ञान-शक्ति प्रखर होती है, वही विज्ञान के क्षेत्र में शोध और अनुसंधान की दृष्टि से उन्नति करता है। यही नहीं, एक वैज्ञानिक की योग्यता से दूसरे वैज्ञानिक की योग्यता में भी अन्तर होता है। यह अन्तर ही विचित्र है और शोध का प्रमुख विषय है, किन्तु ऐसी शोध तभी सफल परिणाम ला सकती है, जब उसके कार्य क्षेत्र में चैतन्य तत्त्व की प्रमुखता हो।

संसार के समग्र पदार्थों, तथ्यों, रहस्यों एवं तत्त्वों का अनुसंधान न किया जा सका हो अथवा न किया जा सके—ऐसी वात नहीं है। यह कार्य निश्चय ही भौतिक वैज्ञानिकों के लिये असंभव है परन्तु आध्यात्मिक चिन्तकों के लिये यह संभव वना है और संभव वनता रहेगा। सच पूछा जाय तो सारे भौतिक विज्ञान का मूल स्रोत भी आध्यात्मिक चिन्तन ही होता है। यदि आत्माभिमुखी वन कर चिन्तन किया जाता है तो सारा विश्व "हस्तामलकवत्" देखा जा सकता है। ज्ञानियों के सर्व-व्यापक ज्ञान में समस्त विश्व एक छोटे से विन्दु की तरह केन्द्रित हो जाता है तथा सर्वज्ञ दृष्टि से समस्त पदार्थों एवं तत्त्वों का उन्हें स्पष्ट वोध हो जाता है।

एक से सर्व और सर्व से एक

ज्ञान के इस विस्तार की दृष्टि से ही वीतराग देव का कथन है कि—

"जे एगं जाणई, ते सव्वं जाणई।
जे सव्वं जाणई, ते एगं जाणई॥"

अर्थात् जो एक तत्त्व को उसके समूचे स्वरूप से जान लेता है, वह सर्व तत्त्वों के स्वरूपों को भी समग्र रूप से जान लेता है और जो सवको जानता है, वह एक को भी जानता है। यह कथन आन्तरिक सत्य से परिपूर्ण है। एक आत्म-तत्त्व को समझने के लिये जितना श्रम किया जायगा, उसके लिये गहरी खोज में डूबा जायगा और यदि उस तत्त्व का निर्णय प्राप्त हो जायगा तो समझ लीजिये कि सारे विश्व के समूचे तत्त्वों का ज्ञान भी सरल वन जायगा।

ऐसा क्यों कहा गया है? यह इसलिये कि आत्मा ही चैतन्य रूप होने से इस सृष्टि का प्रधान कार्यकारी तत्त्व है। सृष्टि के मूल में देखें या विकास में—यही तत्त्व अपनी क्रियाओं-प्रक्रियाओं से चित्र-विचित्र दृश्य प्रस्तुत करता रहता है। यह आत्मिक-तत्त्व मूल रूप से सभी आत्माओं में एक समान होता है। परन्तु जो इनमें भेद दिखाई देता है, वह इनके वीच रहे हुए विकास अथवा अविकास की दृष्टि से है। विकास में इस प्रकार की भिन्नताएं क्यों हैं—यही अनुसंधान का मुख्य विषय है। जव तक इन विभिन्नताओं का पृथक्-

पृथक् विश्लेषण करके इनके कारणों का अनुसंधान नहीं कर लेंगे, तब तक न तो संसार के सभी रहस्यों का ज्ञान हो सकेगा और न ही आत्मा तथा परमात्मा के अन्तर को दूर करने का निश्चित मार्ग मिल सकेगा।

इसलिये कहा गया है कि जो सारे संसार को क्रियाशील बनाने एवं विविध रचनाओं का निर्माण करने वाले एक आत्म-तत्त्व को जान लेता है, वह उस स्पष्ट ज्ञान के द्वारा फिर संसार के सर्वतत्त्वों एवं उनकी प्रक्रियाओं को आसानी से जान लेता है। इसी कथन को दूसरे छोर से पुनरावृत्त इसलिये किया गया है कि जो जितना संसार के सर्वतत्त्वों को स्पष्टता से जानता है, वह एक आत्मतत्त्व को अधिक गहराई से—अधिक सूक्ष्मता से इस तरह जानता है कि वह उस एक तत्त्व के आधार पर अपना सर्वोच्च विकास साध लेता है।

कर्म-विपाक ही मूल कारण है।

प्रार्थना की पंक्तियों में संकेत दिया गया है कि—

" कर्म विपाके कारण जोइने रे,
कोई कहे मतिमंत।"

मानव कर्मों के विपाक के जरिये उस कारण को ढूंढे। इसके अतिरिक्त अन्य उपायों से सही कारण ज्ञात नहीं हो सकेगा। संसार में व्याप्त विभेद एवं विषमता के मूल में कर्म-विपाक ही दिखाई दे रहा है और यह कर्म-विपाक अन्य कुछ नहीं, बल्कि आत्मा की ही अधीन स्थिति है। जैसा कर्म आत्मा उपार्जन करती है, वैसे ही दृश्य इस सृष्टि में दिखाई देते हैं। यह विषमता शारीरिक इन्द्रिय सम्बन्धी हो, बौद्धिक धरातल और मानसिक चिन्तन की हो अथवा आत्मिक शक्ति के विकास— ह्रास की हो— परन्तु सब के पीछे कर्म-विपाक की स्थिति ही वैज्ञानिक रीति से जुड़ रही है। यह वैज्ञानिक रीति किसी भौतिक प्रयोगशाला की नहीं, बल्कि उन प्रबुद्ध चेतना-शक्तियों—तीर्थंकरों की है, जिन्होंने इस विषय पर गहन अनुसंधान करके कर्म-सिद्धान्त का निरूपण किया।

आत्मा किन-किन कर्मों से किस-किस प्रकार से अलग-अलग जीवनों एवं गुणों को धारण करती है और अलग-अलग रीति से सृष्टि में किस प्रकार अपना कार्य करती है—यह सब कर्म-सिद्धान्त का विषय है और जो इस विषय को पूरे तौर पर समझ लेता है, वह वस्तुतः आत्म-तत्त्व को भी समझ लेता है। कर्म विपाक की दृष्टि से ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं मोहनीय कर्मों के बाद अब आयुष्य कर्म पर विचार चल रहा है, जिसमें नरक एवं पशु

योनियों के आयुष्य के कारणों के बाद अब मनुष्य योनि के आयुष्य-बंध के कारणों के सम्बन्ध में जानकारी ली जाय। आयुष्य भी एक प्रकार का कर्म है, जो जब आत्मा के साथ संयुक्त होता है तो उसके फलरूप में आत्मा को उस शरीर में अमुक अवधि तक रहना होता है। इसे आत्मा द्वारा एक शरीर धारण कह सकते हैं, जो किसी अन्य तत्त्व की प्रेरणा से नहीं, बल्कि स्वयं आत्मा की अपनी ही भावना एवं करणी के आधार पर निश्चित होता है। यह निश्चय कर्म-बंध के जरिये होता है तथा उस बंध के अनुसार फलरूप में वह निश्चित जीवन प्राप्त होता है। किन्तु इस सारी प्रक्रिया में कर्ता आत्मा ही होती है, जो कर्म का उपार्जन करती है।

फिर मनुष्य-गति कैसे मिलेगी ?

जब यह सारा गति-क्रम आत्मा ही के अधीन है तो आत्मा के लिये यह जानकारी जरूरी है कि वह किन उपायों का आश्रय ले ताकि इस मनुष्य-जीवन के बाद फिर से मनुष्य-गति ही प्राप्त हो सके। मनुष्य-गति के आयुष्य-बंध के कारणों का ज्ञान होने पर यदि आत्मा तदनुकूल प्रवृत्तियों पर चले तो फिर मनुष्य-जीवन मिल सकता है। श्रीमद्‌ठाणांग सूत्र में इसके चार कारण बताये गये हैं और कहा गया है कि यदि इस जीवन में इन चारों कारणों की पूर्ति हो सके तो मनुष्य-गति का आयुष्य-बंध हो सकता है।

पहला कारण यह बताया गया है कि मनुष्य अपने स्वभाव से भद्र हो। उसके व्यवहार से सच्ची सज्जनता की झलक मिलनी चाहिये। भद्र वही कहा जायगा, जिसकी प्रकृति में छल-बल और मान-अहंकार नहीं हों— क्रोधी-वृत्ति और क्रूरता नहीं हो तथा लोभवश हिंसक तृष्णा का प्रसार नहीं हो— अपितु जिसके स्वभाव में सरलता हो और जो निष्ठा एवं सहृदयता से सबके साथ व्यवहार करता हो। एक भद्र पुरुष न केवल प्रत्येक मनुष्य के साथ, अपितु प्रत्येक प्राणी के साथ ईमानदारी से बर्ताव करता है। उसके जीवन में स्वाभाविक रूप से विनय का समावेश होता है। वह बड़ों के प्रति विनम्र, गुणीजनों के प्रति सम्मानपूर्ण तथा पड़ौसियों व अन्य व्यक्तियों के प्रति सहयोगपूर्ण रहता है। भद्रता में भी विनय के गुण को प्रमुखता दी गई है, जिससे इसको दूसरे कारण के रूप में लिया गया है। जो विनयशील हो, किसी भी प्राणी की निरर्थक अवहेलना नहीं करता हो और पूज्यों की आशातना नहीं करता हो— वैसा मनुष्य यह सोच सकता है कि भद्रता एवं नम्रता के दो कारणों की पूर्ति करते हुए वह मनुष्य-गति के आयुष्य-बंध की साधन-सामग्री जुटा रहा है।

तीसरा कारण है "साणुकसाया" अर्थात् जिसके अन्तःकरण में मन्द

कषाय हो और जिसमें अनुकम्पा की भावना हो तो वह " साणुकोसेयाएहिए " कहलाता है। यह विशेषण अरिष्टनेमि प्रभु के लिये आया है। यह उनके उस समय का गुण है जब वे बारात सजा कर तोरण तक गये किन्तु पशु-पक्षियों के करुण क्रन्दन से अनुकम्पित होकर वापिस लौट गये। यह विशेषण सहानुभूति-सूचक है। इस प्रकार उनके स्वाभाविक गुण का प्रकटीकरण हुआ तथा उसका संसार पर समुचित प्रभाव पड़ा। ऐसे गुण का विकास जो भी मनुष्य अपने इस जीवन में करता है, वह नये मानव-जीवन की पाल बांधता है। दुःखियों के दुःख को देख कर जिसके मन में 'साणुकोसियाए' की भावना नहीं आती, उसके जीवन को भद्र और नम्र भी नहीं कह सकते हैं। यह उसके मन की क्रूरता का लक्षण होगा। ऐसी क्रूरता याने कि मन के न पिघलने की स्थिति मनुष्य को तिर्यंच गति की ओर ले जाती है। चौथा कारण है—अमत्सरवृत्ति अर्थात् ईर्ष्या-वृत्ति को मन में स्थान नहीं देना। ईर्ष्या मनुष्य के स्वभाव को निकृष्ट बनाती है क्योंकि यह दूसरे के प्रति जलन से पैदा होती है। अतः मत्सर-भावना को छोड़ना जरूरी है। इन चार कारण रूप चार गुणों को जो अपने जीवन में उतार कर चलता है, वह आगे भी मनुष्य-गति का बन्ध करता है।

शिलान्यास ठोस आधार पर हो

इन गुणों के साथ भावी जीवन का शिलान्यास यदि ठोस आधार पर किया जाता है तो वह निर्माण भी सुदृढ़ होता है। इस अमूल्य मानव-जीवन को यदि दुर्गुणों का शिकार बना दिया जाय और विपरीत चिन्तन से हिंसक, क्रूर, मायावी आदि रूपों में इसे ढाल दें तो फिर समझना होगा कि आगामी जीवन की नींव रेत के टीले पर रखी जा रही है, जिस कारण सुदृढ़ता की आशा नहीं की जा सकती है।

आगामी मानव-जीवन का शिलान्यास ठोस आधार पर हो—इस दृष्टि से तत्त्वार्थ सूत्र में भी चार हेतुओं का वर्णन आया है। मनुष्य गति के आयुष्य-बंध के लिये व्यक्ति को 'अल्पारंभी' होना चाहिये। वह आरंभ समारंभ में लिप्त नहीं हो और जो आरंभ भी उसे अपनी परिस्थितियों में करना पड़ता हो, उसके प्रति उसका अनासक्त एवं उदासीन भाव हो। परिग्रह एवं उसकी ममता की दृष्टि से भी उसे 'अल्प परिग्रही' बनना चाहिये। अल्प परिग्रह की भावना—यह समता-दर्शन का द्योतन करने वाली है और बाह्य दृष्टि से इसे ही समाजवाद कह सकते हैं। महापरिग्रही ममत्व की दुर्बुद्धि से चारों ओर विषमता फैलाता है, वहां अल्प परिग्रही समता-बुद्धि से समानता के वातावरण

की रचना करता है। परिग्रह के सम-वितरण में आस्था रखने वाला मनुष्य आगे भी मनुष्य बनने का अवसर बना लेता है।

भावी जीवनों का मूल इसी जीवन में है और जो इस जीवन को बना लेता है, वह भावी जीवनों को भी बना लेता है। इस बनाने का अर्थ है कि पतन से उत्थान की ओर आत्मा की गति को मोड़ दिया जाय। यदि वह महारंभ और महा-परिग्रह की लिप्तता को नहीं छोड़ पाती है तो आगे भी पतन के गर्त से निकल नहीं सकेगी और उसके लिये यह नुकसान का सौदा होगा कि मनुष्य-जीवन से पशु या नरक के जीवन में पहुंच जाय। आरंभ और परिग्रह की अल्पता की ओर जब जीवन की वृत्ति ढलती है तो भावी जीवन की नींव जमती है। महारंभ की क्रूरता और महा-परिग्रह की ममता की आंधी जब थमती है, तभी सद्विचारों एवं सद्गुणों का 'शीतल मन्द सुगन्ध' समीर-प्रवाहित हो सकता है। यही समीर आध्यात्मिक सुमनों को खिलाता है।

सम्यक् दृष्टि और स्वभाव मार्दव

उसी जीवन में आध्यात्मिकता का प्रवेश होता है, जिस जीवन में आरंभ एवं परिग्रह के प्रति तटस्थ भाव है। प्रभु महावीर ने इसीलिये निर्देश किया है कि इस तटस्थ भावना से पहले सम्यक्दृष्टि बनो, क्योंकि जब दृष्टि सम्यक् बनेगी तभी तो भाव, आस्था और आचरण भी सम्यक् बन सकेंगे। आध्यात्मिकता का प्रारम्भ है, सम्यक्दृष्टि बनना। तदनन्तर श्रावक के व्रतों को धारण किया जाय और द्रव्य-परिग्रह की भी मर्यादा बांधी जाय। इसका अर्थ होगा कि जीवन अल्प-परिग्रही बन जायगा। इस जीवन में तृष्णा का वेग कम होगा, जिससे मानसिक शान्ति बढ़ेगी। इस शान्ति का उसके समूचे जीवन पर विकासकारक प्रभाव पड़ेगा। शरीर का सुस्वास्थ्य उसे मिलेगा तो मन और मस्तिष्क का सन्तुलन भी। ऐसी स्थिति में आध्यात्मिक चिन्तन की ओर उसकी तल्लीनता जागृत बनेगी। आर्थिक-दृष्टि से आज चारों ओर जो विषमता फैल रही है, अल्प-परिग्रही बनने से उसके समाधान की दिशा भी प्रशस्त बनेगी।

इसके बाद स्वभाव की मार्दवता को लिया गया है। जो कठोर स्वभाव का न होकर मृदु स्वभाव का होता है तथा सबके साथ जो मधुर वाणी का प्रयोग करता है, वह सर्वप्रिय होकर मनुष्य-गति का बंध करता है। यहां मार्दवता से अभिप्राय यही है कि उसकी वाणी एवं कार्यविधि से सामने वालों को प्रमोद उत्पन्न हो। मार्दवता वह है कि उसके प्रत्येक हाव-भाव से दूसरों को शांति और आनन्द मिले, जिसकी दिनचर्या में किसी को कहीं भी अशांति

का अनुभव न हो । जब मनुष्य अल्पारम्भी एवं अल्प-परिग्रही हो तथा ऊपर से उसके व्यवहार में मधुरता भरी हुई हो तो निश्चय ही वह मन से भी भद्र एवं नम्र ही होगा, क्योंकि जो मिठास विचारों में होगी, वही तो वाणी और कार्यविधि में उतरेगा । यह मनुष्य के स्व-नियंत्रण में है कि वह इन सद्गुणों को अपने जीवन में कार्यान्वित करके अपने ही हाथों अपने सुन्दर भविष्य का निर्माण कर ले ।

भद्रता मधुरता और सरलता

मनुष्य-गति के आयुष्य-बंध के संदर्भ में यदि सभी कारणों को समुच्चय दृष्टि से कहना चाहें तो उन्हें इन तीन गुणों में समाविष्ट किया जा सकता है। वे हैं—भद्रता, मधुरता और सरलता । इस सरलता को आर्जवता भी कहते हैं । जो भद्र होगा, नम्र होगा—निश्चय ही उसका व्यवहार मधुर होगा और ऐसे गुणों वाला पुरुष मन, वचन और कर्म से सरल भी अवश्य ही होगा । भद्र, मधुर और सरल व्यक्ति इस जीवन में भी सर्वप्रिय बनेगा तो अपने इन गुणों के माध्यम से आगे भी मानव-जीवन की प्राप्ति को सुरक्षित बना लेगा ।

जब भद्रता, मधुरता एवं सरलता के गुणों का उल्लेख किया जाता है तो उनसे क्रोध, मान, माया व लोभ वृत्तियों के घटने या समाप्त होने का अनुमान लगाना चाहिये । जहां मान व लोभ हैं, वहां भद्रता नहीं आ सकती है। क्रोध है तो मधुरता और माया है तो सरलता नहीं आ सकती है। इसका अर्थ है कि यदि इस मानव-जीवन को सफल बनाना है तथा आध्यात्मिक साधना की पूर्ति हेतु फिर से मानव-जीवन को प्राप्त करना है तो इन विषय-कषाय की वृत्तियों को हल्की बनाते जाइये ताकि भद्रता, मधुरता एवं सरलता के सद्गुण पुष्ट बनते जावें ।

इन स्वाभाविक गुणों से सब में प्रमोद-भावना पैदा होती है । विकारहीन व्यवहार सदैव सबको प्रसन्न बनाता है । जैसे बच्चे से हरेक को प्रेम होता है—यह क्यों ? क्योंकि बच्चा निर्दोष और सरल होता है । वह उस समय तक अपनी प्राकृतिक मधुरता एवं सरलता को खोकर कृत्रिम संस्कारों को ग्रहण नहीं करता है। संसार के ये कृत्रिम संस्कार होते हैं—क्रोध के, मान के, माया के और लोभ के । बच्चा जन्म से स्वाभाविक होता है, किन्तु दुनिया को देख-देख कर कृत्रिम बनता जाता है । वह किससे ये संस्कार सीखता है? उन्हीं लोगों से, जिनकी संगति में वह पलता है और बड़ा होता है। इसी संगति के फलस्वरूप वह मानवता के गुणों से दूर हट कर पशुता की कुप्रवृत्तियों में

पड़ जाता है । जो मनुष्य सच्ची मनुष्यता के धारक होते हैं वे ही सच्चे मनुष्य का निर्माण कर पाते हैं । माता-पिता सभी बनते हैं लेकिन सच्चे माता-पिता वे ही कहलाते हैं, जो अपनी संतान को मनुष्यता के ढांचे में ढाल सकें । यही कारण है कि संस्कार-निर्माण को अत्यधिक महत्व दिया गया है, जिसके बल पर पीढ़ियों का संस्कृति एवं सभ्यता की दृष्टि से निर्माण किया जाता है ।

सुसंस्कार निर्माण पर बल

सरल स्वभाव के साथ जन्मे बच्चे को बाद के संस्कार-निर्माण द्वारा यदि सरल और मधुर बनाये नहीं रख सकते हैं तो इस दोष के भागी माता-पिता, शिक्षक से लेकर समाज, राष्ट्र और विश्व सभी हैं । यह नई पीढ़ी के साथ सभी का उत्तरदायित्व है कि वे उसमें सुसंस्कारों के निर्माण पर इस तरह बल दें कि नई पीढ़ी में मानवोचित सद्गुणों का स्वस्थ रीति से विकास हो ।

वैदिक संस्कृति में ब्राह्मण को द्विजन्मा कहा है । एक तो वह माता की कुक्षि से जन्म लेता है, दूसरी बार वह जनेऊ पहनने के समय संस्कारों से जन्म लेता है । ऐसा ही वीतराग देव के सिद्धान्तों में भी प्रसंग है कि संस्कारों की दृष्टि से बालक के जीवन-निर्माण की ओर पूरा-पूरा ध्यान देना समाज के सभी अंगों का पवित्र कर्तव्य है । बच्चे के संस्कार-निर्माण के लिये उसको तदनुकूल वातावरण देना होगा । आप चाहते हैं कि बालक के सस्कार पवित्र बनें तो आपको उसके चारों ओर के वातावरण को पवित्र रखना होगा । बालक को आप सरल बनाना चाहें और उसके सामने उसके माता-पिता क्रूरतापूर्ण मायावी व्यवहार करते हों तो उन कुसंस्कारों से बालक अछूता थोड़े ही रह सकेगा ? संस्कारों का तो इतना प्रभाव पड़ता है कि एक बार रक्त के गुण भी बच्चा भूल जाता है । इस बारे में मनोवैज्ञानिकों एवं वैज्ञानिकों के प्रयोगों से भी यही साबित हुआ है कि संस्कारों का प्रभाव अधिक स्थायी होता है । इसी से यह भी सिद्ध होता है कि बचपन में बच्चे को जैसा वातावरण दिया जायेगा वैसे ही उसके संस्कार बनेंगे और उन्हीं के अनुरूप उसका जीवन ढलेगा । इसी तरह सारे समाज या सारे राष्ट्र में यदि उन्नतिशील एवं चारित्रिक वातावरण की रचना की जा सके तो उसमें नई पीढ़ी को समान संस्कार मिलने से उसकी सामूहिक प्रगति का द्वार खुल सकता है ।

उपर्युक्त सारे सद्गुणों को मनुष्य अपने जीवन में कार्यान्वित करे तो एक ओर वह अपने आगामी जन्म को सुधार लेगा तो दूसरी ओर नई पीढ़ी के विकास को भी सुनिश्चित बना देगा ।

आप ही अपने भाग्य-निर्माता

आयुष्य कर्म की इन बारीकियों को समझ कर यदि तत्सम्बन्धी कारणों एवं गुणों की जीवन में पूर्ति की जाती है तो वैसी हो गति की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये माना गया है कि आत्मा आप ही अपने भाग्य की निर्माता होती है—यह दूसरी बात है कि वह तदनुकूल विवेक को जागृत न करे एवं अपनी विस्मृति की अवस्था में अपने भाग्य को पर-पदार्थों के कुचक्र में भूल जाए। मन की चंचलता पर नियंत्रण रख कर अगर ऐसी वृत्तियां एवं प्रवृत्तियां बनाई जायं जिनसे मनुष्य गति का आयुष्य-बंध हो तो वैसा आयुष्य अवश्य ही बंधेगा और देवगति के अनुकूल यह जीवन बनाया गया तो देव-गति का बंध भी हो सकता है।

जिसके जीवन में भद्रता, मधुरता और सरलता के गुण समाये हुए हों, उसका प्रभाव क्रूर से क्रूर व्यक्ति पर भी पड़े बिना नहीं रहता। मैं यही संकेत करना चाहता हूं कि भद्रता, मधुरता एवं सरलता के सद्गुणों को अपना कर आप इहलोक और परलोक दोनों को सफल बनाने का अवश्य ही सत्प्रयास करें।



साधु-जीवन की सुदृढ़ता





इक्कीसवां प्रवचन

दिनांक १७ अक्टूबर, १९७२

प्रवचनस्थल—लाल भवन

जयपुर (राजस्थान)

आज श्री भूपेन्द्रमुनि की बड़ी दीक्षा का प्रसंग है। शास्त्रीय पाठों के उच्चारण के साथ जो यह कार्यक्रम सम्पन्न किया गया है, उसका अर्थ है साधु धर्म की सुदृढ़ता। दीक्षा के प्रारंभिक काल में नवदीक्षित साधु-धर्म के विविध नियमोपनियमों से परिचित होता है, नवीन क्रियाओं का अभ्यास करता है, अतः संभव है कि इस प्रक्रिया में उससे कोई दोष भी लग जाय अथवा कि आवश्यक परिपक्वता न आवे—इस दृष्टि से पहली दीक्षा के चार माह के बाद बड़ी दीक्षा दी जाने की परम्परा है।

जब भी तीर्थंकर महाप्रभु चार तीर्थ की स्थापना करते हैं तो इन चार तीर्थों में साधु-साध्वियों को यथा परम्परा सामायिक चारित्र एवं छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण कराने का प्रसंग आता है। चौवीस तीर्थंकरों में से पहले और अन्तिम को छोड़ कर शेष बावीस तीर्थंकरों के काल में केवल सामायिक चारित्र ही दिया जाता था याने कि एक ही दीक्षा की परम्परा थी—दीक्षा तिथि पहली दीक्षा से ही शुरू हो जाती थी। उस काल के साधु साध्वियों को विवेकशील मानकर ही ऐसी परम्परा बनी। किन्तु पहले तीर्थंकर के काल में युगलिया धर्म छोड़ कर पहले पहल मनुष्य कर्म एवं धर्म भूमि पर उतरे, अतः उस समय साधु-साध्वियों में बौद्धिक क्षमता कम मानी गई। तब उनके स्वभाव को ऋजु और जड़ कहा गया। इस कारण तब भी दो दीक्षाओं की पद्धति रही। वे कुछ अल्पबुद्धि होने के साथ सरल होते थे, अतः अंतरिम काल में साधु-धर्म को सुदृढ़ बना लेते थे। इसी प्रकार अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर प्रभु के शासन में भी साधु-साध्वियों के स्वभाव को वक्र और जड़ माना गया याने कि वे अल्पबुद्धि होने के साथ स्वभाव से भी कुछ टेढ़े होने लगे। अतः दो दीक्षाओं की पद्धति पुनः चल पड़ी।

दो दीक्षाओं का यह अभिप्राय होता है कि पहली दीक्षा के अवसर पर सामायिक चारित्र दिया जाता है और चार माह की अवधि में साधु-धर्म को सुदृढ़ बनाकर फिर बड़ी दीक्षा के रूप में छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण कराया जाता है। दीक्षा की अवधि इस बड़ी दीक्षा से गिनी जाती है, वे चार माह दीक्षाकाल में शामिल नहीं किये जाते हैं। इस समय में वक्रता एवं जड़ता

का जो मामूली स्वभाव होता है, उसे हटा कर साधु-धर्म में समरसता उत्पन्न करली जाती है।

साधु धर्म की सुदृढ़ता

पहली दीक्षा और बड़ी दीक्षा के बीच की अवधि को साधु-धर्म की सुदृढ़ता का काल कह सकते हैं। इस समय में चारित्रिक दृष्टि से अतिचार भी होता है तो निरतिचार भी होता है। इसका अर्थ है कि नवदीक्षित से कई त्रुटियां हो जाती हैं। ये त्रुटियां परिवार वालों या सम्बन्धियों के यहां से भिक्षा लाने में अथवा अन्य क्रियाओं में नवीनता होने से हो सकती हैं तो उन सबके परिमार्जन के लिए और एक सुव्यवस्थित अभ्यास बन जाने के बाद यह बड़ी दीक्षा पच्चखाई जाती है। कई बार प्राथमिक काल में प्रतिक्रमण अथवा अन्य दैनिक चर्याएं भी स्मरण में नहीं होती हैं तो वैसी स्थिति में चार माह की बजाय छः माह बाद भी बड़ी दीक्षा दी जाती है। वैसे जघन्य सात दिन की भी बड़ी दीक्षा हो सकती है। यह समयावधि निश्चित सी नहीं है। इसका निश्चय नवदीक्षित की अभ्यास-पुष्टता के आधार पर किया जाता है। एक तरह से इसे साधु-धर्म का प्रशिक्षण-काल कह सकते हैं।

बड़ी दीक्षा के अवसर पर छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण कराने का तात्पर्य्य है कि अब नवदीक्षित को पूरी सावधानी दिलाई जाती है कि वह पुष्ट अभ्यास के साथ साधु-चर्या का पूर्णतः पालन करे। नये वातावरण में आने की जो नवीनता थी, वह अब समरसता में ढल जानी चाहिए। इसके बाद साधारण रूप से त्रुटियां नहीं होनी चाहिएं एवं सतर्कता व सावधानी प्रत्येक क्रिया तथा चर्या के अनुसरण में पूरे तौर पर बनी रहनी चाहिए। बड़ी दीक्षा का अर्थ है, साधु-धर्म की सुदृढ़ता के साथ उस सुदृढ़ता को बराबर बनाये रखने, निभाने और उसे अभिवृद्ध बनाने की चेतावनी। वस्तुतः बड़ी दीक्षा के बाद ही इस कारण उसकी दीक्षा का प्रारंभ माना जाता है कि अब तक जो साधु-धर्म निभाया, वह अभ्यासकाल मात्र था।

अहिंसा, संयम और तप की त्रिपुटी

छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण कराते समय साधु को सावधानी दिलाई जाती है कि तुमने इस प्रकार अपने जीवन में उत्कृष्ट धर्म को ग्रहण किया है। यह उत्कृष्ट धर्म अहिंसा, संयम एवं तप की त्रिपुटी रूप माना गया है। इस उत्कृष्ट धर्म का जब उत्कृष्ट भावना एवं रीति से पालन किया जाता है तो उसे मनुष्य क्या—देवता भी नमस्कार करते हैं। इस आचरण त्रिपुटी का साधु-जीवन के निर्माण में अत्यधिक महत्व है। विचार, वाणी और कार्य

से प्रत्येक प्रकार की हिंसा को त्याग कर रक्षा रूप अहिंसा को ग्रहण करना अहिंसा है तो इस श्रेष्ठ वृत्ति को सहज रूप से अपने सम्पूर्ण जीवन में संयमित बना लेने का नाम संयम है। संयम की उत्कृष्ट श्रेणी तप है, जिस के आराधन से सभी प्रकार के ताप मिट कर आत्मा एक परम शांति एवं आनन्द का अनुभव करने लगती है। इस त्रिपुटी को आचरण में उतार लेने के बाद जो साधु-धर्म ढलता है, वह त्यागमय उत्कृष्टता का प्रखर प्रतीक होता है।

दूसरे शब्दों में इसे श्रुत धर्म एवं चारित्र धर्म की आराधना का क्षेत्र कह सकते हैं। इसमें भी सबसे पहले अहिंसा महाव्रत को धारण करना पड़ता है। बड़ी दीक्षा के पहले तक शारीरिक प्रकृति और क्रिया का जो क्रम था, वह गृहस्थ धर्म के तुल्य था, परन्तु अब साधु जीवन में प्रवेश करने के अवसर पर वह सारा क्रम परिवर्तित हो जाता है। यह एक प्रकार से व्यक्ति का पुनर्जन्म-नया जन्म होता है। अब नये जीवन के अंग-रूप नई चर्याओं को अपनाना पड़ता है। जैसे माता के गर्भ में कोई जीव आता है तो उसके शरीर पिंड में क्रमानुसार अंगोपांगों की रचना होती है। पहले अंग रूप में हाथ, पैर, नाक, कान, आंखें आदि यथास्थान बनते हैं तो फिर उनके उपांग बनते हैं। सभी अंगोपांगों की रचना यथा क्रम, यथा समय एवं यथास्थान हो तो वह सुलक्षणी बालक समझा जाता है। यह तो उसका शारीरिक दृष्टि से जन्म हुआ, परन्तु इस शरीर के मोह को भी छोड़ कर जो आत्मा के सुलक्षणी अंगों के निर्माण हेतु संसार से विरागी बनता है तो इस समय उसका भी नया जन्म ही होता है कि वह साधु-धर्म के क्षेत्र में उतरा है, जहां उसे अहिंसा, संयम एवं तप के सबल अंगों से आत्मा के स्वरूप को समुज्ज्वल बनाना होता है।

साधु जीवन के अंग और उपांग

अब शरीर पिंड के अंगों के स्थान पर साधु जीवन के अंगों और उपांगों को समझने की जरूरत है कि किन-किन सिद्धान्तों को किस रूप में देखना और पालन करना है। जैसे शरीर के मुख्य अंग-रूप पांच इन्द्रियां हैं, वैसे ही साधु जीवन के प्रमुख अंग रूप पांच महाव्रत हैं। इनमें पहला अहिंसा महाव्रत है। बड़ी दीक्षा के समय साधु भगवान् की साक्षी देकर इस महाव्रत को ग्रहण करता है और संकल्प लेता है कि सर्वथा प्रकार से छोटे-बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा वह न करेगा, न करायेगा और न करते हुए का अनुमोदन करेगा। यह संकल्प तीन करण और तीन योग से होता है जो मन, वचन और काया के योग माने गये हैं। अहिंसा के रूप में साधु जीवन का पहला अंग निर्मित होता है।

दूसरे अंग के रूप में सत्य महाव्रत लिया जाता है। यदि पहले अंग को पुष्ट बनाये रखना है तो मन, वाणी एवं कर्म में सभी रूपों में सत्य को स्थान देना होगा। इस समय प्रतिज्ञा ली जानी चाहिए कि वह क्रोध, मान, आवेश आदि की कैसी भी परिस्थिति हो—असत्य को न मन में, न वचन में और न आचरण में प्रयुक्त करेगा। असत्य का त्याग भी तीन करण और तीन योग से होता है।

तीसरे अंग की दृष्टि से शास्त्रकारों ने अचौर्य महाव्रत को बताया है। अहिंसा और सत्य की रक्षा के लिए किसी भी प्रकार की चोरी की वृत्ति का अस्तित्व नहीं रहना चाहिए। साधु किसी की भी वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना अंगीकार न करे। बड़ी वस्तु तो दूर रही, किन्तु छोटी से छोटी वस्तु भी—चाहे वह दांत कुचरने के लिए तिनका ही हो–स्वामी की बिना आज्ञा नहीं लेनी चाहिए। किसी वस्तु का कोई विशेष स्वामी नहीं हो तो उसकी आज्ञा किसी भी नगर निवासी से ली जा सकती है। वह अवसर भी नहीं हो तो सीर में अथवा शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा से ली जा सकती है। बिना आज्ञा के तो किसी भी वस्तु को ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है।

चौथा महाव्रत है ब्रह्मचर्य व्रत। यावज्जीवन मिथुन–वृत्ति का त्याग करके ब्रह्मचर्य के धारण करने से अहिंसा, सत्य एवं अचौर्य वृत्तियों का समुचित रक्षण ही नहीं, विकास भी होता है। यह भी महाव्रतों की शृंखला में एक मूल अंग है और इसका एक साधु को मन, वचन एवं काया द्वारा तीन करण तीन योग से पालन करना होता है।

अपरिग्रह के पांचवें महाव्रत के अनुसार एक साधु को भाव एवं द्रव्य सभी प्रकार के परिग्रह का परित्याग करना होता है। चारों महाव्रतों का रक्षक यह पांचवां महाव्रत होता है तथा इसको ग्रहण करने से ही साधु निर्ग्रन्थ कहलाता है। परिग्रह के इस सर्वथा त्याग में संयम की रक्षा हेतु आवश्यक भंडोपकरणों की छूट होती है किन्तु इन उपकरणों का भी अनावश्यक संग्रह नहीं किया जाना चाहिए। किसी भी प्रकार का धातु साधु अपने पास नहीं रखे—एक सुई भी उपयोगार्थ वह किसी गृहस्थ से लावे तो उसे संध्यापूर्व वापिस लौटा दे। किसी भी प्रकार की मुद्रा भी साधु अपने पास न रखे और न अपने नाम से पत्राचार करे। सुई की तरह पेन (कलम) भी उपयोगार्थ ले तो पुनः उसी दिन लौटा दे—अपनी नेश्राय में न रखे। यदि भूल आदि से रख लेता है तो उसका प्रायश्चित्त करना होता है। स्याही भी 'स्पिरिट' मिली काम में ली जावे, जिसमें जीवों की उत्पत्ति संभव नहीं होती है। इसी प्रकार मूल अंगों से

सम्बन्धित उपांग रूप नियमोपनियमों का भी साधु आचरण की दृष्टि से विशद् वर्णन आता है।

अहिंसा की अनुसरण-पद्धति

इस समय साधक यह प्रश्न कर सकता है कि इस विशाल एवं विराट् रूपी अहिंसा का निर्वाह वह अपने जीवन में कैसे कर सकेगा ? पृथ्वी, जल आदि षड्कायाओं में जीव हैं, फिर उनके बीच रहते हुए उन जीवों का रक्षण वह कैसे कर सकेगा ? शास्त्रकार कहते हैं—हे साधक, पृथ्वी का आठ अंगुल का ऊपरी हिस्सा सूर्यकिरणों के प्रभाव से तथा मनुष्यों की पद-चालन क्रिया से अचित्त हो जाता है। अतः तुम उस पर विवेक से चलो तथा पृथ्वी का खनन आदि न करो। जल भी अचित्त पीओ और यह अचित्त जल गृहस्थों के यहां बर्तन आदि धोने के कारण स्वाभाविक रूप से तैयार होता है। राख-मिट्टी आदि से वे बर्तन धुलने के कारण वह पानी प्रासुक हो जाता है। गृहस्थ उसे बाहर फेंकते हैं किन्तु साधु उस अचित्त पानी को ही ग्रहण करे। गृहस्थों को चाहे वे किसी भी जाति या धर्म के हों—यह ध्यान दिलाने की जरूरत है कि वे पानी को फेंके नहीं, बल्कि विवेकपूर्वक रख लें जिसे साधु लेजा सके। तैयार गर्म पानी भी अचित्त रूप में साधु ले सकते हैं।

शास्त्रकारों का अहिंसा धर्म के पूर्णतया पालन की दृष्टि से आगे संकेत है कि साधु अपना आहार भी स्वयं नहीं बनावें बल्कि स्वयं के लिए गृहस्थ द्वारा बनाया हुआ भी ग्रहण नहीं करे। वह तो अतिथि की तरह द्वार-द्वार घूमे और निर्दोष भिक्षा लेवे तथा भिक्षा भी स्वल्प मात्रा में, जिसका किसी तरह का कोई बोझा गृहस्थ को प्रतीत न हो। इसी कारण इसे गोचरी कहते हैं कि जैसे गाय थोड़ा-थोड़ा चरती है, उसी तरह साधु अपनी भिक्षा का क्रम रखे। भिक्षा लेने के पहले पूरी जांच करके तथा बयालीस दोष टाल कर वह भिक्षा लेवे। जहां चार आदमियों की रसोई बनती है तो स्वाभाविक रूप से कुछ अधिक होती ही है, जिसे साधु ग्रहण करता है। इसका नाम मधुकरी वृत्ति भी है। भंवरा जैसे बिना कष्ट दिये फूल-फूल से सूक्ष्म रस ग्रहण करता है, वैसे ही साधु की भिक्षाचरी होती है। अहिंसा की अनुसरण पद्धति को स्वस्थ बनाये रखने के लिए साधु को ऐसी छोटी-छोटी बातों का भी पूरा ध्यान रखना होता है, तभी अहिंसा महाव्रत का सम्पूर्णतः पालन संभव बनता है।

मन की स्थिरता के उपाय

दशवैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन में बताया गया है कि पांच महाव्रतों को अंगीकार करके साधु बन जाने के बाद भी मन में अनेकानेक

कल्पनाएं आ सकती हैं, इच्छाएं उभर सकती हैं और लालसाएं जाग सकती हैं, किन्तु निर्देश दिया गया है कि ऐसे समय में मन की चंचलता को रोको और उसे साधु-धर्म में स्थिर बनाओ, क्योंकि साधु-धर्म जो तुमने अंगीकार किया है, वह बलात् नहीं, स्वेच्छा से अंगीकार किया है। अतः स्वेच्छा से ही उसका पूर्ण अनुपालन आवश्यक है। जिस इच्छा-शक्ति के बल से एक बार संसार के समस्त परिग्रह का त्याग करके महाव्रतों को ग्रहण किया है तो फिर उन त्यागी हुई कल्पनाओं, इच्छाओं तथा लालसाओं को मन में स्थान देना और साधु-धर्म को विकृत बनाना कतई उचित नहीं है।

दीक्षा कभी भी भार रूप से ग्रहण नहीं की जाती है। वैराग्य भावना के उत्कट बनने पर सहज रूप में कोई गृहस्थ-धर्म छोड़ कर सांसारिक सुखों को तिलांजलि देकर साधुजीवन अपनाता है—प्रिय और कान्त योग्य वस्तुओं को अपने अधीन होते हुए भी वह त्यागता है तो इस सहजता को कहीं भी दुर्बल नहीं बनने देना चाहिए। जो ग्रहण किये हुए महाव्रतों का साधुवेश रखते हुए ईमानदारी से पालन नहीं करता, वह अपने साधुपने में तो दोष लगाता ही है किन्तु भगवान् की भी अवज्ञा करता है। प्राप्त का त्याग करने के बाद उनकी कैसी भी कामना करना—यह तो थूक कर चाटने जैसा होता है।

इसलिए कहा गया है कि अपनी विचार दशा को स्वस्थ बनाये रखो और कभी किसी प्रकार मन में कुछ चंचलता आ भी जावे तो उसे स्थिर करने के उपाय काम में लो। चंचल परिणामों की दशा में अपने प्रति कठोरता से काम लेना चाहिए। उस समय शरीर से श्रम किया जाये, गुरुजनों की सेवा का अवसर हो तो सेवा-सुश्रुषा में दत्तचित्त बना जाय अथवा और कोई अवसर न हो तो मन के उफान को शान्त करने के लिए सूर्य की आतापना ही ली जाय। ऐसा करने से चंचलता मिटेगी, विकार नष्ट होंगे और मन में शान्ति एवं स्थिरता का विस्तार होगा। यदि ऐसा भी न हो तो साधु ग्रामानुग्राम का उग्र विहार करता रहे, जिससे कि आई हुई चंचलता का सम्पर्क टूट जाय। फिर भी मन में ऊंचा-नीचापन आता रहे तो वह ध्यान आदि की अन्य साधनाओं को अपनावे।

चंचलता से संघर्ष करता रहे।

साधु जब तक मन की चंचलता का शमन न हो जाय—उससे संघर्ष करता रहे। मन की चंचलता अकेली ही ऐसी गुणघातिका होती है, जिसका यथासमय शमन नहीं किया जाय तो वह साधु-जीवन के मूल अंगों को भी ठेस पहुँचा सकती है। कोई यह कहे कि साधु बनने के बाद मन चंचल बने

ही क्यों ? यह वांछनीय है कि साधु अपने मन का निग्रह करे और उसके स्थिरीकरण से अपनी साधना को गहरी बनावे किन्तु मन तो ऐसा चपल अश्व होता है कि अच्छे-अच्छे सवारों के हाथ से भी उसकी रास खिसक जाती है। गुफा में एकान्त और एकाग्र ध्यान करने वाले रथनेमि के मन का क्या हुआ ? वर्षा से बचाव करने के लिए राजमती गुफा में घुसी—यह जान कर कि गुफा निर्जन होगी। अंधेरे कोने में ध्यानस्थ खड़े मुनि रथनेमि उस निर्वस्त्र सुन्दर देह यष्टि को देख कर अपने मन को अपने हाथ से खो बैठे। मन ऐसा चंचल बना कि वे अपने साधु-जीवन को भूल कर राजमती से प्रणय-याचना करने लगे। यह राजमती का नैतिक साहस था कि उसने उन्हें धिक्कारा, समझाया और पश्चात्तापी बनाया। राजमती ने उन्हें वमन का रूपक दिया कि एक त्यागी जो उसे छोड़ गया है, उस वमन को वे चाटना चाहते हैं। तब उनका मन स्थिर हुआ और उन्होंने अपने आपको कठोरतम साधना में तल्लीन बना दिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब मन की चंचलता अति अनियंत्रित हो जाय, तब साधु को अपने मन पर ज्ञान का ऐसा अंकुश लगाना चाहिए, जिससे कि मन वश में हो जाय। यदि मन साधु को उसकी साधना से विचलित कर दे, तब तो वह घटना साधु-जीवन के लिए लज्जाजनक बन जाती है। इसीलिए कहा है कि हे साधक, जब-जब तुम जिन-जिन स्त्रियों को देखते हो और उनके लिए मन को चंचल बनाते हो तो तुम हरप्पा वनस्पति की तरह यत्र-तत्र गिरते जाओगे और महाव्रतों को नष्ट करते जाओगे।

नियमित अन्न : निश्चल मन

इस हेतु भगवान् ने संकेत दिया है कि साधु जीवन में चलते हुए बावन अनाचारों को भी टालकर चलो। निर्दोष भिक्षा ग्रहण करो तथा नियमित आहार लो क्योंकि नियमित एवं सादे आहार से मन को निश्चल रखने में बड़ी सहायता मिलती है। भिक्षा में लिया जाने वाला आहार आधा-कर्मी नहीं हो तथा साधु के निमित्त से बनाया हुआ नहीं हो। उद्देशक भोजन को छोड़ देना चाहिए। खरीदा हुआ भोजन भी साधु ग्रहण नहीं करे और एक ही स्थान से भी नित्य आहार न ले। सुखे-समाधे एक घर से एक दिन में भी एक वक्त ही भिक्षा लेनी चाहिए। सामने लाया हुआ आहार भी साधु नहीं ले तथा वर्षा व फुहारों तक में भिक्षा लेने को वह अपने स्थान से बाहर नहीं जावे। धर्मस्थान में दया करने के निमित्त से भी श्रावकों द्वारा लाया हुआ भोजन साधु ग्रहण नहीं करे। गृहस्थ के घर में से भी जो आहार लिया जाय, उसके

लिए भी साधु अपनी दृष्टि रखे कि कोई भी वस्तु सचित्त वस्तु से छुआती हुई नहीं देदी जाय । दृष्टि से परे की लाई हुई वस्तु को साधु ग्रहण नहीं करे । न तो साधु रात्रि में कोई भी वस्तु खावे और न खाद्य पदार्थ रात में अपने यहां रखे ।

भोजन के विषय में इतनी छोटी-छोटी बातों के सम्बन्ध में सतर्कता बरतने का अर्थ यह है कि साधु आहार के निमित्त किसी भी प्रकार की हिंसा का भागी नहीं बने, भोजन के स्वाद में नहीं पड़े तथा आहार नियमित एवं अल्प मात्रा में इतना ही ग्रहण करे कि जो संयमी जीवन को चलाने के लिए आवश्यक हो । उसे खाने के लिए जीना नहीं, जीने के लिए खाना होता है । यदि निर्दोष, सादे एवं नियमित आहार का क्रम लेकर साधु चलता है तो निश्चित मानिये कि उसके लिए अपने मन पर निग्रह रखना भी उतना कठिन नहीं रहेगा ।

शरीर पर भी निर्मोह-वृत्ति

जैसे साधु को भोजन संयमी जीवन को चलाने के उद्देश्य मात्र से लेना होता है, उसी प्रकार अपने शरीर के प्रति भी निर्मोहवृत्ति रखते हुए उसे संयमी जीवन के उपयोग मात्र के लिए शरीर को रक्षित करना होता है । शरीर को अच्छा दिखाने की शृंगार-भावना रंच मात्र भी साधु के मन में नहीं आनी चाहिए । इसीलिए स्नान करने, कपड़ों को बेदाग रखने अथवा अन्य प्रकार से शरीर-शोभा को बढ़ाने की तरफ साधु की कोई रुचि नहीं होनी चाहिए । अशुचि किसी प्रकार शरीर के साथ न रहे—यह दूसरी बात है, किन्तु उसमें साज-सज्जा का भाव कतई नहीं होना चाहिए । साधु पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रती होता है—इस कारण उसे शारीरिक शोभा की दृष्टि से रहित होना चाहिए ।

अपने आपको सुन्दर दिखाने की सामान्य सी भावना को भी यदि साधु अपने जीवन में स्थान देने लगता है तो समझिये कि वह अपनी आत्माभिमुखी चर्याओं से हट कर हर समय इसी चिन्ता मे लगा रहेगा कि उसकी चमड़ी चमकती हुई रहे, कपड़े बेदाग और जमे हुए हों तथा अन्य शृंगार-प्रसाधनों का उपयोग करने की भी उसकी लालसा बनेगी । ऐसा होने पर फिर साधुत्व कहां रहेगा ? उसका अन्तर्मुखी स्वभाव तो समाप्त होने लगेगा और जब वह बहिर्मुखी बनने लगेगा तो फिर उसका साधु-अवस्था में रहना ही कैसे उचित माना जायगा ? एक बात यह जरूर देखने की है कि पसीने या अन्य कारणों से शरीर अथवा वस्त्रों की ऐसी दुरावस्था भी न हो कि

जिससे गन्दगी के कारण जीवोत्पत्ति होने लगे तथा साधु को हिंसा का भागी बनना पड़े। मूल भावना यह है कि शरीर की रक्षा शरीर के लिए नहीं, संयमी जीवन की सफलता के लिए साधु को करनी होती है। शरीर की इस प्रकार की रक्षा में भी पहले साधु को जीवरक्षा का ध्यान करना चाहिए। चाहे वह वस्त्रों का प्रक्षालन करे या अन्य उपकरणों को रखे, उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की भी हिंसा का प्रसंग नहीं बनना चाहिए। कपड़े धोने में भी केवल सोड़े का ही प्रयोग करे, साबुन का नहीं। वह इत्र सेंट का भी प्रयोग नहीं करे।

कष्ट सहन का नाम ही साधुजीवन है

शरीर पर मोह नहीं रखने का अर्थ है कि शारीरिक कष्ट सहन करने की एक परिपक्व क्षमता साधुजीवन में बन जानी चाहिए। वह ऐसा शरीर-कष्ट होता है, जिससे आत्म-सुख पैदा होता है। केश का लुंचन करना, नंगे पैरों से विहार करना, सीमित वस्त्रों से सभी ऋतुओं में काम चलाना आदि सभी प्रकार से शारीरिक कष्टों की छाया में आत्मा की साधना की जाती है। इसी कारण यह कहा जाय तो कतई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कष्टसहन का नाम ही साधु-जीवन है।

संयम की मर्यादाएं और आचरण की सीमाएं साधुजीवन पर इस तरह आच्छादित रहती हैं कि वहां शरीर के मोह का कोई स्थान नहीं रहता। गर्मी में शरीर पसीने-पसीने हो रहा हो तब भी साधु को किसी भी प्रकार से पंखा नहीं झलना चाहिए—कागज या पुस्तिका आदि से भी पखे के उपयोग का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि हाथ या कपड़े तक से साधु हवा कर ले तो वह अनाचरण की स्थिति होती है। अपने मर्यादित उपकरणों के सिवाय साधु को किन्हीं पदार्थों का किसी भी प्रकार से संचय नहीं करना चाहिए। गृहस्थ के पात्र और वस्त्र का भी साधु उपयोग नहीं करे। भोजन की दृष्टि से साधु राजपिंड, चक्रवर्ती का भोजन अथवा कामोत्तेजक भोजन भी ग्रहण नहीं करे। शृंगार की दृष्टि से साधु मर्दन, उबटन, दन्त प्रक्षालन आदि भी नहीं करे। दर्पण-दर्शन भी साधु के लिए निषिद्ध है। साधु छत्र छत्री का उपयोग नहीं करे। वर्षा या फुहारों में साधु भिक्षा के लिए नहीं जा सकता है किन्तु शंका-निवारण के लिए तो जा सकता है। साधु को रोग हो जाय तो जहां तक उसकी क्षमता हो अपने आध्यात्मिक प्रयोग करे तथा बाह्य चिकित्सा नहीं करावे और चिकित्सा करावे तो इस तरह कि संयम और मूल महाव्रतों में दोष नहीं लगे। नियमानुसार कोई दोष लगता

है तो उसके लिए साधु को प्रायश्चित्त करना होता है। जिनकल्पी मुनि तो किसी भी प्रकार की चिकित्सा कराते ही नहीं हैं क्योंकि उनके शरीर का संगठन वज्र ऋषभनाराच संहनन का होता है। स्थविरकल्पी मुनि चिकित्सा कराते हैं किन्तु उसी अवस्था में कि गृहस्थ औषध—भैषज का निमंत्रण करे।

सार रूप तथ्य यह है कि साधु अपने शरीर का रक्षण संयम की रक्षा के निमित्त से करे—शरीर के सुख की दृष्टि से नहीं, क्योंकि संयम का साध्य आत्म-सुख होता है जिसकी सर्वश्रेष्ठता की प्राप्ति हेतु शरीर से भी मुक्त होना पड़ता है।

साधु का प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक हो।

साधु अपनी चर्या के प्रत्येक कार्य को यतनापूर्वक करे—यह आवश्यक है। शास्त्रकार गिनाते हैं कि साधु अग्नि का आरंभ—समारंभ नहीं करे तथा रात में रोशनी भी नहीं करे या करावे। साधु की नेश्राय वाले मकान में रोशनी नहीं की जाने का आचार है। जिस गृहस्थ के मकान की आज्ञा साधु ने ली है, उसके घर से वह आहार नहीं लावे। इसके पीछे भावना यही है कि साधु के निमित्त से किसी एक पर अधिक भार नहीं पड़े। साधु की आचार—संहिता इस प्रकार की है कि साधु के जीवन निर्वाह का बोझ कोई महसूस न करे किन्तु वह सारे समाज को ज्ञान एवं जागृति बांटे।

साधु को गृहस्थ से वैयावृत्य भी नहीं करानी चाहिए। साधु थक गया है या रोगी शरीर है तथा गृहस्थ साधु की सेवा—सुश्रूषा करना चाहे तब भी साधु किसी प्रकार से सेवा नहीं करावे। यदि वह गृहस्थ के हाथों सेवा लेता है तो उसे अनाचार लगता है। साधु की सहन—शक्ति भी मजबूत होनी चाहिए कि वह रोग, कष्ट या संकट के समय हाय-विलाप नहीं करे। रोग आदि के समय यदि चिकित्सा की व्यवस्था नहीं हो तो साधु को मन पर नहीं लाना चाहिए बल्कि यह सोच कर प्रसन्न होना चाहिए कि इस प्रकार उसके कर्मों की निर्जरा हो रही है। वैसे साधुसमाज में वैयावृत्य एवं सेवा-सुश्रूषा की बड़ी स्वस्थ परम्परा चलती है और दीक्षावृद्धों की सेवा बड़ी तन्मयता से की जाती है, फिर भी साधु—जीवन में सहन—शक्ति एवं धीरज की भावना होनी चाहिए।

भगवान् ने एक साधक को निर्देश दिया है कि वह यतनापूर्वक चले, यतनापूर्वक खावे, यतनापूर्वक पीए, यतनापूर्वक उठे, यतनापूर्वक बैठे आदि याने कि साधु का प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक होना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो पाप कर्मों का बंध नहीं करता है।

"पढमं नाणं तओ दया" का आदर्श निर्देश

साधु के लिए वीतरागदेव का यह निर्देश आदर्श रूप है कि पहले ज्ञान और फिर क्रिया। इसका अर्थ है कि साधु का आचरण ज्ञानमय होना चाहिए तथा ज्ञान आचरणहीन नहीं रहना चाहिए। पहले ज्ञान सीखो और फिर तदनुकूल आचरण करो। ज्ञान और क्रिया का इस प्रकार से आराधन मोक्ष तक पहुँचाने वाला बनता है। इस प्रारंभ की स्थिति से मोक्ष की स्थिति तक का वर्णन दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययनों में आया है। इसका साधु को गंभीरतापूर्वक अध्ययन–मनन करना चाहिए तथा अपने प्रवुद्ध चिन्तन की सहायता से मोक्ष–मार्ग पर प्रगति करनी चाहिए। जो साधु अपनी चर्या को सुरक्षित एवं शुद्ध रख कर चलता है तथा अपने ज्ञान-ध्यान को चमकाता है, उसका आत्मकल्याण निश्चित माना जाना चाहिए।

श्रावक साधु पर दया करें

अन्तिम बात मैं यह कहना चाहता हूं कि अपने महाव्रतों की रक्षा साधु तो करेगा ही किन्तु श्रावक–श्राविकाओं को साधु–साध्वियों पर दया रखनी चाहिए। आप सोचते होंगे कि यह कैसी दया है ? इस दया का अर्थ यह है कि श्रावकवर्ग साधुवर्ग के संयम-रक्षा के प्रयासों में सर्व–सहयोग करे। यह नहीं कि मोहवश स्वयं संयमविरोधी आचरण करावे अथवा साधु के विपरीत आचरण को सहन करे। ऐसी शिथिलता और पक्षबन्दी श्रावकवर्ग की तरफ से होने पर ही साधु को अपने आचार के विपरीत चलने का दुस्साहस होता है। मैं ऐसे श्रावक वर्ग को निर्दयी मानता हूं। श्रावकों को इस आशय से दयावान होना चाहिए कि साधु अपने संयममार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलने में सहयोग पावे।

साधु जीवन की सुदृढ़ता एक पवित्र ध्येय है, क्योंकि साधु–जीवन योद्धा और वीर का जीवन होता है, जो विकारों एवं कर्मों के साथ युद्ध में विजय प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ता है।

●●●